मुखौटे

हंसराज रहबर

"मेरे प्यारे मित्र, हमारे इस महान देश में झूठ का नाम सत्य है। यहाँ धर्म लेबिल है, देश-भक्ति लेबिल है और समाजवाद लेबिल है।

—वास्तविकता कुछ भी नहीं

प्रकाशक :

बाफना बुक डिपो,
चौड़ा रास्ता जयपुर—३
(राजस्थान)

मूल्य ५ रुपये

मुद्रक :
कीर्ति प्रिंटर्स एण्ड पब्लीशर्स,
जयपुर—४

एक

अनिल आंखें मूंदे कितनी ही देर काऊच में लेटा रहा। चेतना लौटी तो उसने गर्दन उठाकर एक नज़र इधर उधर देखा और फिर नौकर को आवाज दी :—

"वसन्ते।"

"जी सा' व" वसन्ता दौड़ता हुआ आया।

"चाय लाओ"।

"जी सा' व।"

नौकर उल्टे पांव लौट गया और अनिल माथे पर हाथ रखकर सोचने लगा।

"क्या यह चित्र कभी नहीं बनेगा? हमेशा यों ही बिगड़ता रहेगा?"

कनाट प्लेस में मद्रास होटल के सामने उसका स्टुडियो है, जहां वह अपने चित्र और मूर्तियां बनाया करता है। कई बार ऐसा भी होता है कि वह एक ही विचार को चित्र और मूर्ति दोनों में ढाल देता है। लेकिन अगर कहीं जरा सी त्रुटि रह जाये,

उसका विचार अपने पूर्ण सौन्दर्य और सूक्ष्मता के साथ व्यक्त न हो पाये, तो वह एक ही चित्र को दोबारा, सहबारा और इस से भी अधिक मर्तबा बनाने में संकोच नहीं करता था। यही उसकी सफलता का रहस्य था, लेकिन सफलता तक पहुँचने के लिए बनाने-मिटाने के उसे जो असफल प्रयास करने पड़ते थे, उन से वह परेशान भी हो उठता था।

इस समय वह इसी परेशानी की स्थिति में था।

फरवरी का महीना, सुबह आठ-नौ बजे का समय, उसने अपना एक चित्र चौथी मर्तबा बनाना शुरू किया था। पेलिट पर चार प्रकार के रंग घुले रखे थे और उनकी सहायता से वह अपनी कल्पना को सजीव और साकार बना रहा था। कैन्वस पर नजर पड़ती तो मनोगत भावनाएँ रंगों के सदृश आंखों में चमक उठती और सिर भी धीरे-धीरे हिलने लगता।

बहुत दिनों के परिश्रम के बाद उसका यह चित्र मुकम्मिल होने जा रहा है—इस विचार ने मन को गुदगुदाया और उसने आनन्द की मुद्रा में सफलता का अशब्द गीत गुनगुनाना शुरू किया।

पर आनन्द की यह स्थिति अधिक नहीं टिक पाई। रंगों को मिलाती हुई तूलिका पेलिट पर यकायक रुक गई। उसने चित्र को ध्यान से, सूक्ष्म दृष्टि से देखना शुरू किया। वह देख रहा था और गुनगुना रहा था। स्वर धीमे से ऊँचा, बहुत ऊँचा उठा और फिर एक दम बंद हो गया जैसे स्वर के अंतिम बिन्दु पर पहुँचते ही वीणा का तार टूट जाये।

अब वह ऊपर से शान्त और स्थिर था, पर उसका अभ्यंतर

अंतर्द्वंद्व की भयंकर लहरों से तूफान में घिरे पेड़ की तरह कांप रहा था। अगर उसने मुट्ठी न कस ली होती, तो, तूलिका अवश्य हाथ से छूट जाती।

"नहीं, यह भी नहीं।" उसने आवेश में भर कर सस्वर कहा और तूलिका के दो आडे-तिरछे हाथ कैन्वस पर मारे।

गुणा (×) का स्थूल चिन्ह उभर आया। अनिल ने एक नजर उसकी ओर देखा और तूलिका धरती पर पटक दी।

दूसरे ही क्षण वह काऊच में धंसा हुआ था। सिर एक ओर को लुढ़क गया था, होंठ भिचे हुए थे और चेहरे का रंग फीका पड़ गया था। जब चेतना ही शिथिल हो तो मनुष्य में सुख-दुख की अनुभूति शेष नही रह जाती अनिल का मन अनुभूति से रिक्त था। वह अब उस व्यक्ति के सदृश श्रान्त और निढाल था, जो बरसों की लम्बी और कठिन यात्रा से असफल लौटा हो। जिस फूल की उसे तलाश थी, वह उस तक पहुँचा लेकिन तोड़ना चाहा तो देखते ही देखते हाथ से निकल गया। स्थिति और भी गम्भीर थी। शायद यों कहना ज्यादा सही होगा कि कोई स्त्री प्रसूति-पीड़ा सहकर मां बनने की साध पूरी करती है और वह सृजन के आनन्द से मुस्काना चाहती है, मगर उसी समय कान में भिनक पड़ती है। कि जिस बालक को उसने जन्म दिया है, वह अपूर्ण और पंगु है।

जब उसने वसन्ते को आवाज दी तो वह इसी मनोस्थिति से उभरा था। अब वह श्रान्त मन को चाय की चुस्कियों से बहला रहा था और उसने फिर से सोचना शुरू कर दिया था।

इसी समय दरवाजे पर दस्तक हुई।

उसका विचार अपने पूर्ण सौन्दर्य और सूक्ष्मता के साथ व्यक्त न हो पाये, तो वह एक ही चित्र को दोबारा, सहबारा और इस से भी अधिक मर्तबा बनाने में संकोच नहीं करता था। यही उसकी सफलता का रहस्य था, लेकिन सफलता तक पहुँचने के लिए बनाने-मिटाने के उसे जो असफल प्रयास करने पड़ते थे, उन से वह परेशान भी हो उठता था।

इस समय वह इसी परेशानी की स्थिति में था।

फरवरी का महीना, सुबह आठ-नौ बजे का समय, उसने अपना एक चित्र चौथी मर्तबा बनाना शुरू किया था। पेलिट पर चार प्रकार के रंग घुले रखे थे और उनकी सहायता से वह अपनी कल्पना को सजीव और साकार बना रहा था। कैन्वस पर नजर पड़ती तो मनोगत भावनाएँ रंगों के सदृश आंखों में चमक उठतीं और सिर भी धीरे-धीरे हिलने लगता।

बहुत दिनों के परिश्रम के बाद उसका यह चित्र मुकम्मिल होने जा रहा है-इस विचार ने मन को गुदगुदाया और उसने आनन्द की मुद्रा में सफलता का अशब्द गीत गुनगुनाना शुरू किया।

पर आनन्द की यह स्थिति अधिक नहीं टिक पाई। रंगों को मिलाती हुई तूलिका पेलिट पर यकायक रुक गई। उसने चित्र को ध्यान से, सूक्ष्म दृष्टि से देखना शुरू किया। वह देख रहा था और गुनगुना रहा था। स्वर धीमे से ऊँचा, बहुत ऊँचा उठा और फिर एक दम बंद हो गया जैसे स्वर के अंतिम बिन्दु पर पहुँचते ही वीणा का तार टूट जाये।

अब वह ऊपर से शान्त और स्थिर था, पर उसका अभ्यंतर

अंतर्द्वद्व की भयंकर लहरों से तूफान में घिरे पेड़ की तरह कांप रहा था। अगर उसने मुट्ठी न कस ली होती, तो, तूलिका अवश्य हाथ से छूट जाती।

"नहीं, यह भी नहीं।" उसने आवेश में भर कर सस्वर कहा और तूलिका के दो आडे-तिरछे हाथ कैन्वस पर मारे।

गुणा (×) का स्थूल चिन्ह उभर आया। अनिल ने एक नजर उसकी ओर देखा और तूलिका धरती पर पटक दी।

दूसरे ही क्षण वह काऊच में धंसा हुआ था। सिर एक ओर को लुढ़क गया था, होंठ भिचे हुए थे और चेहरे का रंग फीका पड़ गया था। जब चेतना ही शिथिल हो तो मनुष्य में सुख-दुख की अनुभूति शेष नहीं रह जाती अनिल का मन अनुभूति से रिक्त था। वह अब उस व्यक्ति के सदृश श्रान्त और निढाल था, जो बरसों की लम्बी और कठिन यात्रा से असफल लौटा हो। जिस फूल की उसे तलाश थी, वह उस तक पहुँचा लेकिन तोड़ना चाहा तो देखते ही देखते हाथ से निकल गया। स्थिति और भी गम्भीर थी। शायद यों कहना ज्यादा सही होगा कि कोई स्त्री प्रसूति-पीड़ा सहकर मां बनने की साध पूरी करती है और वह सृजन के आनन्द से मुस्काना चाहती है, मगर उसी समय कान में भिनक पड़ती है। कि जिस बालक को उसने जन्म दिया है, वह अपूर्ण और पंगु है।

जब उसने बसन्ते को आवाज दी तो वह इसी मनोस्थिति से उभरा था। अब वह श्रान्त मन को चाय की चुस्कियों से बहला रहा था और उसने फिर से सोचना शुरू कर दिया था।

इसी समय दरवाजे पर दस्तक हुई।

मुखौटे

अनिल ने उठकर देखा तो मोंगा सामने खड़ा था। मगर वह अकेला नहीं था, उसके साथ दो व्यक्ति और भी थे।

मोंगा के साथ जो दो अपरिचित व्यक्ति थे, उनमें से एक ने अनिल का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया और उसने आगन्तुक को सिर से पांव तक देखा। उस व्यक्ति ने गेरुवे रेशमी वस्त्र धारण कर रखे थे, सिर नंगा और घुटा हुआ था, हाथ में एक चिकना गोल डंडा था, जो उसकी खोपड़ी ही के सदृश झना-झन चमक रहा था। इस वेष-भूषा से यह अनुमान सहज में लग सकता था कि आगन्तुक या तो कोई बहुत बड़ा मठाधीश है अथवा किसी सम्पन्न सम्प्रदाय का धार्मिक गुरु है।

दूसरा व्यक्ति अपनी आकृति ही से उसका अनुचर जान पड़ता था।

जब वे भीतर आकर बैठ गये तो मोंगा ने रेशम धारी व्यक्ति की ओर संकेत करते हुए अनिल से कहा :

"आप से मिलिये। आप हैं महन्त योगेश्वर गिरि। मथुरा में आपका बहुत बड़ा मन्दिर है। पर महन्त होते हुए भी आप आधुनिक विचारों के उदार, मननशील और कलाप्रिय व्यक्ति हैं। यह देखिए, आपके पास एक चित्र है।"

संकेत पाते ही तीसरा व्यक्ति उठा और मोंगा ने चित्र उससे लेकर अनिल की ओर बढ़ा दिया।

अनिल देखते ही चौंक उठा। कुछ देर चुप बैठा चित्र की ओर देखता रहा और फिर आंखों में उल्लास भर कर वह मुस्कराते हुए बोला-"क्या चीज बनायी है! हमारी कल्पना आज से सदियों पहले भी कितनी प्रौढ़ और समृद्ध थी। पौराणिक

कथाएं इसका ज्वलन्त प्रमाण हैं। फिर इस कल्पना को जिस ढंग से चित्रों और मूर्तियों में साकार बना दिया गया है, उसकी तुलना सम्भव नहीं है।" वह आप ही आप मुस्कराया और दृष्टि चित्र पर गड़ाए-गड़ाए फिर कहा:-"वाह, वाह, क्या चीज है। जी चाहता है कि देखते ही रहिये।" ....

" देखने ही की बात है तो खूब देख लेना।" मोंगा ने उसे टोका, "चित्र आप ही के पास रहेगा। इस समय आप महन्त जी से बात कीजिये। वह एक खास काम से आये हैं।"

"कहिये, कहिये, मैं तो भूल ही गया था।" अनिल महन्त से मुखातिब हुआ, मगर दूसरे ही क्षण फिर चित्र में खो गया। इस अनूठी कलाकृति ने कलाकार को इतना प्रभावित किया था कि इस समय उसे और कुछ भी नहीं सूझ रहा था। वह चित्र की ओर देखते हुए फिर बोला:-'शिव और पार्वती को इस मुद्रा में चित्रित करना सहज नहीं है। आंखों में अलौकिक ज्योति, होठों पर मन्द-अति मन्द मुस्कान, कानों में कुण्डल और पार्वती के हाथ में यह नन्हा-सा कमल-पुष्प वाह, । देखते ही रहिये, कुछ कहते नहीं बनता।" उसने एक नजर महन्त की ओर देखा और बात जारी रखी, "सच बात यह है कि ऐसी कलाकृति किसी व्यक्ति विशेष की देन नहीं हो सकती। मनुष्य सदियों से जो तप, साधना और श्रम करता आया है यह उसी का फल है।

अनिल ने चित्र को दोनों हाथों में थाम कर यों ऊपर उठाया जैसे कलाकार के नाम की जय-पताका लहरा रहा हो।

हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा हो।

"चित्र में अद्भुत कल्पना वाकई साकार हो उठी है। इसके अनुपम कलाकृति होने में कुछ भी सन्देह नहीं। जिस किसी भी कलाकार ने इसे बनाया है, यह तय है कि वह सरल हृदय होने के अलावा तप, साधना और निष्ठा का वरदान पाये हुए था।"

महन्त ने अनिल के उन्माद और उल्लास से प्रेरित होकर कहा। उसके स्वर में किसी प्रकार की धार्मिक कृत्रिमता नहीं थी और उसने कोई सूत्र नहीं दोहराया था। जैसे एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से बात करता है, ठीक उसी सामान्य ढंग से अवसर के अनुकूल एक बात कही थी।

अनिल ने इस स्वर को पहचाना। वेष-भूषा देख मन में कौतूहल और विद्रूप का जो कुहासा छा गया था, वह छंट गया। अतएव महन्त के मानव स्वरूप में दिलचस्पी लेते हुए उसने कहा :

"आपने चित्र और चित्रकार दोनों को ठीक समझा है।" वह एक क्षण रुका। चित्र पर एक नजर डालकर और गर्दन झटक कर आगे कहा, "शिव शम्भू के सरल, महान् और दबंग रूप को चित्रित करने वाला कलाकार भी निश्चित रूप से सरल, महान् और दबंग रहा होगा।"

"कोई भी कलाकृति हो, उसमें उसके निर्माता का चरित्र अवश्य झलक आता है।" महन्त मुस्कराया। एक नजर मोंगा पर डाल कर वह फिर अनिल से मुखातिब हुआ, "क्षमा कीजिएगा। लोग कला को देखते हैं और कलाकार को भूल जाते हैं। पर मैं प्रत्यक्ष में अप्रत्यक्ष को देखता हूं। कला को देख कलाकार के आगे नत-मस्तक होता हूं। मर्यादा पुरुषोत्तम राम का यशोगान

हम बहुत करते हैं, मगर यह नहीं सोचते कि दशरथ के बेटे राम को जन-जन का आराध्य भगवान बना देने का वास्तविक श्रेय महाकवि तुलसी को प्राप्त है। मैं राम से भी अधिक तुलसी का उपासक हूं।"

महन्त सस्मित दृष्टि से अनिल की ओर देख रहा था। उसकी आंखों में कुछ ऐसी चमक थी, जो भक्ति-भाव की बजाय प्रतिभा और बुद्धि की सूचक थी।

अनिल मंत्र-मुग्ध सा उसकी ओर देख रहा था और उसके शब्दों को ध्वनित-प्रतिध्वनित होते सुन रहा था। जो व्यक्ति हृदय का शुद्ध, शिष्ट और महान न हो, वह दूसरे के गुण, गरिमा और महानता को स्वीकार नहीं कर पाता। उसने महन्त के प्रति सहस आकर्षण महसूस किया और वह उसे सचमुच आधुनिक विचारों का उदार व्यक्ति जान पड़ा।

"आपसे मिलकर मन बहुत प्रसन्न हुआ। कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूं।" अनिल ने कहा और वह महन्त से मिलकर वाकई खुश था।

"सेवा तो जो बन पड़ेगी, हम करेंगे।" महन्त ने उत्तर दिया, "हम आपके पास एक विशेष प्रयोजन से आये हैं और उसे सिर्फ आप ही सिद्ध कर सकते हैं।"

"कहिये!"

महन्त ने खुद उत्तर देने के बजाय मोंगा की तरफ देखा।

"महन्तजी यह चित्र इसलिए लाये हैं कि वह इसकी मूर्ति बनवाना चाहते हैं।" मोंगा ने खुलासा बात कही।

"मूर्ति !"

"एक ऐसी विशाल मूर्ति" महन्त ने आंखों में विशालता भरकर गर्दन हिलाते हुए कहा, "जिसमें शिव और पार्वती का यह रूप ज्यों का त्यों अंकित हो जाय।"

"और यह काम मुझे करना होगा ?" अनिल बोला।

"जाहिर है कि आप ही करेंगे। मैं तो नहीं कर सकता।"

मोंगा खिलखिलाकर हंसा और आगे के दो सुनहरे दांत चमक उठे। लेकिन अनिल की मुखमुद्रा गम्भीर होगई थी और वह होंठ भींचे सोच रहा था।

"महन्त जी," मोंगा फिर बोला, "उस मूर्ति को मंदिर में स्थापित करेंगे।"

"विचार तो अच्छा है।" अनिल ने समर्थन किया।

"इससे पहले आप कई आदमियों के पास गये, पर बात नहीं बनी........।"

मोंगा कहते-कहते रुक गया क्योंकि अनिल का ध्यान इस ओर नहीं था। वह चित्र पर दृष्टि गड़ाये सोच रहा था और चिन्तन की लहरें चेहरे पर उभर रही थीं।

"काम बहुत कठिन है।" उसने सहसा महन्त की ओर देखकर कहा।

कुछ क्षण मौन के बीते।

"इसमें सन्देह नहीं।" महन्त ने अनिल के कथन का महत्व समझते हुए कहा, "काम कठिन है, हम यही सोचकर आपके पास आये हैं। अगर असम्भव होता तो बिलकुल न आते।"

मोंगा फिर हंसा और अनिल भी मुस्कुराया।

"असम्भव तो खैर क्या होगा ? जब चित्र बन सकता है तो मूर्ति भी बन सकती है ।" अनिल ने कहा ।

"बस फिर ठीक है, मूर्ति आप बनाइये ।" महन्त बोला, "हम मानते हैं कि श्रम अधिक पड़ेगा । पर कोई परवाह नहीं, इसके लिए जो सेवा आपकी हमें करनी चाहिए, उसका निर्णय भी अभी हो जाय ।"

यह एक गम्भीर समस्या थी । काफी देर किसी ने कुछ नहीं कहा । अनिल और महन्त दोनों ही एक दूसरे के मुंह की ओर देखते रहे ।

"भक्तों की कृपा से, "महन्त फिर बोला, "धन की हमारे पास कोई कमी नहीं है । आप जो कुछ भी उचित समझते हैं, बिना किसी संकोच और दुविधा के कह दीजिए ।"

महन्त उदार भाव से मुस्कुराया और मुस्कान ने उसके मानव रूप को और भी स्पष्ट कर दिया । फिर उसके मुख से 'भगवान की कृपा' के बजाय 'भक्तों की कृपा' की बात सुनकर अनिल को विश्वास हो गया कि जो व्यक्ति महन्त होते हुए भी इतना सांसारिक और स्पष्टवादी है, उससे मामला अवश्य पट सकता है ।

पर इस विश्वास के बावजूद अनिल से कुछ कहते न बन पड़ा । उसने चित्र को फिर उठाया और उसके एक-एक अंग, एक-एक रंग और एक-एक विवरण को ध्यान से देखने लगा ।

"अनिल ! अधिक हैस-बेस की जरूरत नहीं । महन्त जी ने सौ की एक बात कह दी । जो मांगोगे सो मिल जायगा ।" मोंगा कुर्सी के बाजुओं पर कोहनियां टेक कर बोला ।

अनिल को उसका यह प्रलाप अप्रिय और असंगत जान पड़ा। पर जब वह खिन्न भाव से उस की ओर देख रहा था तो मोंगा ने आंख के इशारे से अपने कथन की व्याख्या की और उसे ऊंचा जाने को कहा।

"चित्र में कला कि जो सूक्ष्मता है," अनिल ने महन्त की ओर पलट कर कहा, "वह आपसे छिपी नहीं; इसलिए मूर्ति बनाने में जो श्रम पड़ेगा, उसे आप सहज में समझ सकते हैं।"

"गलत बात," महन्त ने गर्दन झटक कर उत्तर दिया, "श्रम का अनुमान वही लगा सकता है, जिसे श्रम करना पड़ता है।"

"ठीक, बिलकुल ठीक। आपकी यह बात सोलहों आने सही है।" मोंगा ने समर्थन किया।

"आप श्रम की बात ही छोड़िये।" महन्त फिर उदार भाव से मुस्कुराया, "श्रम का मूल्य शायद हम दे भी न पायें। शायद क्या निश्चित रूप से दे नहीं पायेंगे। कलाकार के श्रम का मूल्य कौन दे सकता है? आप सीधे-सीधे यह बताइए कि हमें आपकी क्या सेवा करनी होगी?"

"हां, हां, बताइये।" मोंगा ने अनिल को उकसाया, "महन्त जी को सौदा थोड़ा ही पटाना है। उन्हें तो काम करवाना है और वह आप कर ही देंगे।"

अनिल कुछ क्षण चुप बैठा सामने दीवार की ओर ताकता रहा। महन्त और मोंगा कभी एक दूसरे की ओर कभी अनिल उसकी ओर देख लेते थे।

"मैं समझता हूं," उसने धीरे से कहा, "बीस हजार मिल

जायें तो ठीक है ।"

"वीस हजार !" महन्त ने दोहराया और फिर दायां हाथ पूरा खोल कर शान्त स्थिर भाव से कहा, "ठीक है, बीस हजार ही मिलेंगे ।"

महन्त एक दम उठ खड़ा हुआ और उसके साथ ही अनुचर भी उठा । लेकिन मोंगा महन्त को ओर देखता हुआ कुर्सी ही पर जमा रहा ।

"पेशगी जो चाहिए, वह भी कह दो ।" आखिर उसने अनिल से कहा ।

महन्त फिर बैठ गया । अनुचर से थैला लिया और चैक-बुक निकाल कर पूछा :--"कहिये, कितनी ?"

अनिल ने एक नजर चैक-बुक पर डाली लेकिन मुंह से कुछ कहा नहीं । वह चुपचाप मोंगा की तरफ देखने लगा ।

"अभी पांच हजार से काम चलेगा । और जरूरत हुई तो फिर देखा जायगा ।" मोंगा ने तनिक सोचकर कहा और फिर कलाकार से पूछा, "क्यों अनिल जी, ठीक है न ?"

"हां ठीक है ।"

और महन्त ने तुरन्त चैक काट दिया ।

दो

दिल्ली के भागों छिक्का टूटा। अनिल और मोंगा दोनों खुश थे। कलाकार के मस्तिष्क में तेल और रंग की जो गन्ध बस गयी थी, वह दूर हो गयी और असफलता जनित थकान भी जाती रही।

दूसरे दिन जब चैक कैश होकर आया अनिल ने सारा रुपया मोंगा के सम्मुख रख कर कहा, "तुम्हें जितनी जरूरत हो पहले तुम ले लो, क्योंकि यह तुम्हारी ही बुद्धि का चमत्कार है। यार, यह महन्त बहुत ही धनवान मालूम होता है। चैक काटते जरा भी आना-कानी नहीं की, कुछ भी तो देर नहीं लगायी।"

"हमारे इस देश में अगर महन्त धनवान नहीं होंगे तो क्या कलाकार और विचारक होंगे। तुम मथुरा जाकर मंदिर देखो, महन्त के ठाठ-बाट देखो तो दंग रह जाओ। राजे-रईसों की भी ऐसी शान नहीं होगी।"

"अच्छा, यह बात है!" अनिल ने विस्मय प्रकट किया और तनिक रुक कर फिर कहा, "पर तुमने यह तो बताया ही नहीं कि महन्त तुम्हारे हाथ कैसे लगा?"

"मेरे हाथ ! सुनिये, मैं बताता हूँ ।" मोंगा ने होठों पर जबान फेरते हुए कहा, "मेरे एक मित्र हैं भानु कुमार खरे । दर असल मित्रता भी क्या है, यों ही जान पहचान है । आज से दस-ग्यारह साल पहले-सन् ३८-३९ में उससे अचानक मुलाकात हुई थी । मैं घूमने-फिरने धर्मशाला गया हुआ था और जिस होटल में मैंने कमरा ले रखा था खरे भी इत्तफाक से उसी में रहता था । वह स्वच्छन्द स्वभाव का विनोदप्रिय व्यक्ति है, इसलिए जान-पहचान सहज में हो गयी ! उसे खद्दर पहने देख यह भी अनुमान लगा लिया कि हो न हो राजनीति में दिलचस्पी लेता है । मैं भी उन दिनों साशलिस्ट कहलाने में गर्व महसूस करता था और वह भी वामपक्षी विचार धारा से प्रभावित था । इसलिए हम दोनों में शीघ्र ही घनिष्ठता वढ़ी ......"

"घनिष्ठता बढ़ाने में तुम कुछ कम उस्ताद नहीं हो ।" अनिल ने चुटकी ली ।

"इस मामले में खरे मुझसे भी दो कदम आगे है । मिलोगे तो मान जाओगे ।"

"यह वात है ! तव तो घनिष्ठता वनी-वनायी थी ।"

"पहले हम अलग-अलग रहते थे । फिर किराया बचाने के ख्याल से एक साथ रहना शुरू कर दिया । दो महीने आनन्द से बीते । उसके वाद ऐसे विछड़े कि खरे की याद तक जेहन से उतर गयी । परसों राजघाट पर फिर अचानक मुलाकात हो गयी । खरे ने मुझे देखते ही पहचान लिया और धर्मशाला के सहवास की याद दिलायी । मैंने उसे तुरन्त [illegible] बुला लिया । बड़े प्रेम से मिले । सचमुच वह ऐसा ही व्यक्ति है कि मिलकर पर

तो पा ही लोगे, कम से कम रौंदे जाने की पीड़ा से तो बचोगे।"

मोंगा ने अपने आपको ऊपर खींचा और ठिगने कद को सायास लम्बा करने का प्रयत्न किया और फिर शरीर को ढीला छोड़कर वह कुर्सी में धंस गया।

मनुष्य समाज में नाना रूप धारण करके रहता है। उसे अपना वास्तविक रूप समझने में बड़ी दिक्कत होती है, पर समझ ले तो सुख का अनुभव करता है। मोंगा के भी कई रूप थे, जो समय और स्थिति के अनुसार बदलते रहते थे। वह सिर्फ अनिल ही को मूर्तियों और चित्रों के ग्राहक नहीं जुटाता था, बल्कि और भी कई धन्धे करता था। उदाहरण के लिए, वह शहर के एक प्रसिद्ध सर्राफ का दलाल था। इधर-उधर के ग्राहक घेर कर वह उसके पास ले जाता था। इसके अलावा एक फोटोग्राफर, एक प्रेस और एक फर्नीचर वाले से भी उसका कमीशन मुकर्रर था। जान-पहचान के लोगों को उसके इन धन्धों के बारे में मालूम नहीं था, वे उसे एक ऐसे समाज-सेवक के रूप में जानते थे जो जनहित और परोपकार के कार्यों में हमेशा सक्रिय रहता है और जो प्रत्येक सार्वजनिक समारोह को सफल बनाना अपना विशेष कर्त्तव्य समझता है। निस्वार्थ सेवाभाव से जैसे वह और बीसियों काम करता है, वैसे ही इश्तिहार और पोस्टर भी छपवा लाता है। अगर किसी समारोह में कुछ विशेष व्यक्तियों के फोटो लेना आवश्यक हो तो फोटोग्राफर की व्यवस्था कर देता है। इसी नाते वह कई संस्थाओं का सदस्य था, होटलों और क्लबों में आता-जाता था। और विभिन्न प्रकार के स्त्री-पुरुषों से सम्पर्क स्थापित करके उनके स्वभाव और रुचि को समझने का प्रयत्न

करता था। और फिर उन्हें आभूषण खरीदने, फोटो खिचवाने और ड्राईंग-रूम सजाने आदि के सम्बन्ध में समुचित सलाह देता था, जैसे वह स्वभाव ही से एक सभ्य और संस्कृत व्यक्ति हो और इन सलाहों में उसका अपना कुछ भी स्वार्थ निहित न हो।

चार-पांच साल पहले वह एक सफल इंश्योरेंस एजेंट था। तरक्की करके आर्गनाइजर बन गया था। कम्पनी की तरफ से कार मिली हुई थी और ढाई तीन हजार रुपये महीना आमदनी थी। मगर वह एकदम लखपति और करोड़पति बन जाने के सपने देखता और हार्स-रेस में बड़े-बड़े दांव लगाया करता था। एक बार ऐसा पिटा कि सब कुछ खो बैठा। ऋण चुकाने के लिए कम्पनी के साथ धोखा किया, जिससे उसका बरसों का किया-कराया धूल में मिल गया।

उससे भी चार-पांच साल पहले वह एक जाली सिक्के बनाने वाले गिरोह के साथ गिरफ्तार हुआ था। गिरोह के दूसरे सदस्यों पर आरोप सिद्ध हुआ। और उन्हें कठोर दण्ड देकर जेल भेज दिया गया, मगर मोंगा साफ बच निकला। कारण यह कि कुछ अख-बारों और सुप्रसिद्ध नेताओं ने उसके पक्ष में यह आवाज उठायी कि पुलिस एक सच्चे समाज सेवक और राजनीतिक कार्यकर्ता को खाहमखाह फांस लेना चाहती है वरना इस काण्ड से और इस गिरोह से उसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

"जब मैं स्कूल में पढ़ता था," मोंगा सहसा उठ बैठा और नाटकीय ढंग से हाथ हिलाते हुए बात शुरू की, "तभी मैंने शायद कहीं पढ़ा और शायद किसी से सुना था कि हमेशा चोटी पर पहुं-चने का प्रयत्न करो। अगर तुम किसी न किसी तरह एक बार

चोटी पर पहुँचने में सफल हो गये तो वहां तुम्हारे लिए स्थान अवश्य बन जायगा। यह बात मेरे कुछ ऐसी मन लगी कि मैं इसे फिर कभी नहीं भूला सका। उसके बाद मैंने हमेशा चोटी पर पहुँचने का प्रयत्न किया है। हमारे इस समाज के बहुत से स्तर हैं। मैं जानता हूँ कि जो जितना नीचे है, वह उतना ही अधिक पिस रहा है। मेरे मन में कभी यह भाव भी उत्पन्न हुआ था कि जो लोग सबसे निचले स्तर पर हैं और जिनकी संख्या बहुत अधिक है, उन्हें पिसने से बचाया जाय। इसीलिए मैं अपने आप को 'सोश-लिस्ट' कहने लगा था; पर अब सोचता हूँ कि यह निरी आत्म-वंचना थी। अनुभव से मैंने आखिर इस तथ्य को पा लिया है कि समाज को बदलना अपने बस का रोग नहीं है। हमेशा मूर्खता में पड़े रहने और व्यर्थ शक्ति नष्ट करते रहने से क्या लाभ? अब मेरी धारणा यह है कि अगर आदमी अपने आपको-सिर्फ अपने आपको पिसने से बचा सके तो इतना ही गनीमत है। जीवन के अनुभव ही से अब मैंने यह भी सीख लिया है कि जिसमें खुद न्याय प्राप्त करने और अपना अधिकार मनवाने का बल और बुद्धि नहीं है, दूसरा कोई भी व्यक्ति उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। समझ लो कि वह पिसने ही के लिए पैदा हुआ है...... ...''

''ऐसा ज्ञान!'' अनिल ने चुटकी ली और मुस्कुराते हुए कहा, ''पहले तुम पीकर बहकते थे और अब बिना पिये ही बहक रहे हो। आखिर बात क्या है?''

''पीने का साधन जो मौजूद है।'' मोंगा नोटों की ओर संकेत करके हँस पड़ा और ऐनक साफ करके फिर बोला, ''रुपये

का नशा, तुम जानते ही हो, शराब के नशे से सौ गुणा तेज होता है।"

मोंगा ने मुस्कुराते हुए खीस निकाल दी। ऊपर के दो दांतों पर सुनहरी पालिश हुआ था। बाकी दांत सफेद थे और उनके मुकाबले में ये दो दांत खूब चमकते थे। मोंगा को अपनी जिन चीजों पर विशेष गर्व था, उनमें दांत भी शामिल थे। इसलिए वह उनकी सफ़ाई का विशेष ध्यान रखता था और बात-बात में विचित्र ढंग से खीस निपोर देता था।

"दोस्त, तुम ठीक-बिलकुल ठीक कहते हो।" अनिल ने एक अर्थपूर्ण दृष्टि पहले नोटों पर और फिर मोंगा पर डाली और बात जारी रखी, "इतने दिनों बाद नोट सामने देख कर वाकई नशा-सा महसूस होता है और जी चाहता है कि नारा लगाऊं-नोट जिन्दा बाद। महन्त योगेश्वर गिरी जिन्दाबाद।"

"और जी० डी० मोंगा जिन्दाबाद!" मोंगा ने अपनी पीठ थपथपायी। उसका पूरा नाम गोवर्धन दास मोंगा था।

"इसमें क्या सन्देह है दोस्त! तुम न होते तो ये नोट बैंक ही में धरे रहते, और हम मुंह का स्वाद बदलने को तरस जाते।"

मोंगा मुस्कुराया और कुछ क्षण चुप बैठा मन ही मन में मुग्ध होता रहा।

"यहां तो एक दिन भी नागा नहीं किया।" उसने शरीर को झटक कर बात शुरू की, "नौशाद होटल में हमेशा महफिल जमती है।"

"क्या कोई नई मुर्गी फंसा रखी है?"

"संसार में जब तक मूर्ख जीवित हैं हमारा काम चलता ही रहेगा।" मोंगा सगर्व मुस्कुराया और खीस दिखाकर फिर बोला, "आज कल मुर्गी नहीं, एक बड़ा मुर्गा आप ही आ फंसा है। बशेशर नामका एक अधेड़ उम्र सेठ है। बुजुर्गों से इतनी बड़ी जायदाद विरसे में मिली है कि चार-पांच हजार रुपये महीना तो सिर्फ किराया ही आता है। इस बिगड़े सेठ को शायरी का खब्त है। पीकर जब वह अपने बेतुके शेर सुनाता है और प्रेम-प्रलाप में छाती पर हाथ मारता है तो बस मजा आ जाता है।"

"अर्थात् आदमी धनी ही नहीं दिलचस्प भी है."

"अजी दिलचस्प कहां, बड़ा ही बोर है। पर अपनी गरज से सहन करना पड़ता है। शाम को चलियेगा, आपसे भी मुलाकात रहेगी।"

"जब हमें अपने पैसे से पीनी है तो बोर होने से लाभ ?"

अनिल ने एक ऐसी दृष्टि मोंगा पर डाली, जिसमें प्रश्न और उपहास के बजाय व्यंग्य और विद्रूप अधिक था। पर मोंगा तनिक भी विचलित नहीं हुआ।

"यह भी ठीक है।" मोंगा ने अनिल की बात का समर्थन किया और तनिक रुक कर आगे कहा, "वैसे आदमी भला है। मिल लेने में क्या हर्ज है ?"

"अच्छा देखेंगे।" अनिल ने उत्तर दिया।

तीन

अगली सुबह अनिल ने जब स्टुडियो में प्रवेश किया तो उसके होठों पर हल्की सी मुस्कुराहट थी जो आंतरिक आनन्द और उल्लास की सूचक थी। धनाभाव के कारण मनमें जो कुंठा, निराशा और खिन्नता भर गयी थी, और जिसके कारण कला नीरस और रंग फीके जान पड़ते थे, उसका अब कोई भी चिन्ह शेष नहीं रह गया था। वह रात ही रात में बहुत बदल गया था और उसे अपना स्टुडियो भी बदला हुआ जान पड़ता था।

भीतर आते ही उसने एक भरपूर दृष्टि उस चित्र पर डाली, जिसे कल झुंझला कर काट दिया था। एक क्षण ध्यान से देखा तो चित्र की त्रुटियां पहले से कहीं अधिक स्पष्ट हो गयीं। आखिर देखना भी सहन न हो सका और उसने चित्र को हाथ के एक ही झटके से उतार कर अलग फेंक दिया।

जब उसके स्थान पर एक नया कैन्वस फिट हो गया, तो अनिल ने अपने मन में विशुद्ध और सूक्ष्म आनन्द का अनुभव किया, जैसे विफलता पर विजय पाली हो और अपने भीतर से कोई विरूप और विकृत वस्तु निकाल कर बाहर फेंक दी हो।

वह काफी देर शान्त और स्थिर बैठा नये कैन्वस की ओर देखता और चित्र को नये सिरे से उरेहने की योजना स्थिर करता रहा।

किसी भी कलाकृति के बारे में मन ही मन में सोचना और योजना स्थिर करना वास्तविक उरेहने से कहीं अधिक सुखकर है। कल्पना जो चित्र बनाती है, वह कितना पूर्ण, कितना अनुपम सूक्ष्म और कितना आकर्षक होता है। ऐ, काश! चित्रकार उसे ज्यों का त्यों छू मंत्र से कैन्वस पर उतार पाता!

अनिल खोया-खोया सा सोफे पर आ बैठा। अगर इस समय कमरे में बम फटने का धमाका होता तो भी शायद वह उसे न सुन पाता। वह इस दुनिया से दूर कल्पना के संसार में विचर रहा था। विचार जितना चित्र के मूल भाव पर केन्द्रित होते रहे उसके भीतर अशरीरी सुख की मात्रा बढ़ती रही। एक क्षण ऐसा आया जब वह अपने आपको सुखमय तरलता में विलीन हो गया महसूस करने लगा।

उसने शरीर को ढीला, ढीला-एकदम ढीला छोड़ दिया, सिर सोफे की पुश्त पर जा टिका और टांगें तनिक फैल गयीं। होंठों पर हलकी-हलकी मुस्कुराहट यों लग रही थी जैसे वहां जम सी गयी थी। वह अब कुछ सोच भी नहीं रहा था, क्योंकि सोचने की प्रक्रिया अपने अन्तिम बिन्दु पर पहुँच कर सहसा स्थिर हो गयी थी। उसने अपना चिन्तन, अपना शरीर,-अपना अस्तित्व मात्र अनुभूति के इस स्थिर क्षण को सौंप दिया था। एक प्रकार से यह कलाकार का कला के आगे आत्म-समर्पण था।

ऐसे क्षण ही कलाकार का मूलधन है, जो उसे सृजन-शक्ति

प्रदान करते हैं, उसे प्रेरणा देते हैं और उसमें स्फूर्ति और उत्साह का संचार करते हैं।

मगर संसार में स्थिरता कहां है ? जब अविरल अबाध गति से घूमते रहना ही पृथ्वी का स्वभाव है तो समय स्थिर कैसे रहेगा ? इस क्षण को भी बीतना था और वह बीता। अनिल ने सिर ऊपर उठाया, होठों तक सीमित मुस्कुराहट कानों तक फैल गयी और उसने एक दृढ़ भाव से इधर—उधर देखा। अन्त में उसकी दृष्टि एक मूर्ति पर जाकर रुक गयी। यह मूर्ति उसने कुछ दिन पहले बनायी थी और बनाकर नीचे लिख दिया था :—
'आधुनिक समाज !"

"वाकई यह एक मौलिक और अनूठा विचार है !" उसने सस्वर कहा और मूर्ति की ओर यों देखना शुरू किया जैसे वह किसी अन्य व्यक्ति की कृति हो और खुद उसने इसे पहली बार देखा हो।

मूर्ति का निचला भाग काफी ठोस और विस्तृत था। पर ऊपर उठते-उठते शिखर पर जो गुम्बद-सा बन गया था, वह ऐसा टेढ़ा—मेढ़ा और एक तरफ को झुका-झुका सा जान पड़ता था कि अब गिरा, अब गिरा। वैसे मूर्ति साधारण थी, पर ध्यान से देखा जाय तो उसमें आधुनिक समाज की वक्रता और क्रूरता साकार हो उठी थी। ऊपर से नीचे तक चाहे एक ही चीज थी, पर वह अलग-अलग तहों में बंटी हुई थी। देखने वाले पर वास्त-विक प्रभाव यह पड़ता था कि इन तहों के भीतर शोषण के काले विषैले नाग अपनी जीभें लपलपा रहे हैं।

अनिल को अपनी यह कृति विशेष रूप से पसंद थी और बन

जाने के वाद जब मोंगा ने इसे देखा तो अनिल ने विद्रूप भाव से कहा था : "क्यों मोंगा, यही है न तुम्हारा समाज ?"

"बिलकुल यही है, पर...." मोंगा ने मूर्तिकार अनिल के मुख पर आंखें गड़ाकर उत्तर दिया था, "यह समाज सिर्फ मेरा ही नहीं, तुम्हारा भी है। हम सबका है।"

और वह खिलखिलाकर हंस पड़ा था।

अनिल को लगा कि मोंगा की यह हंसी अब भी कमरे में गूंज रही है और उसके विद्रूप का उत्तर विद्रुप में भयंकर विद्रूप में दे रही है।

अनिल और सब कुछ भूल कर अपने और मोंगा के आपसी सम्बन्ध पर विचार करने लगा। उसे महन्त को पटाने की, पांच हजार रुपये के चैक की और मोंगा को नोट उठा-उठाकर निगलने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित करने की बात स्मरण हो आयी।

वह कुछ क्षण शान्त और स्थिर बैठा सोचता रहा, फिर शरीर को झटक कर सहसा उठा और फर्श पर पड़े बेकार कैन्वस को समेटने लगा।

"बाप रे, इसे भी कंडम कर दिया!"

अनिल ने पलट कर देखा। उसकी पत्नी हेमला आश्चर्य-चिन्ह बनी सामने खड़ी थी।

"कंडम किया नहीं, हो गया।" अनिल ने धीरे से उत्तर दिया।

"पर तुम तो बहुत खुश थे और कहते थे कि इस बार चित्र ठीक बन रहा है।"

प्रदान करते हैं, उसे प्रेरणा देते हैं और उसमें स्फूर्ति और उत्साह का संचार करते हैं।

मगर संसार में स्थिरता कहां है? जब अविरल अबाध गति से घूमते रहना ही पृथ्वी का स्वभाव है तो समय स्थिर कैसे रहेगा? इस क्षण को भी बीतना था और वह बीता। अनिल ने सिर ऊपर उठाया, होठों तक सीमित मुस्कुराहट कानों तक फैल गयी और उसने एक दृढ़ भाव से इधर-उधर देखा। अन्त में उसकी दृष्टि एक मूर्ति पर जाकर रुक गयी। यह मूर्ति उसने कुछ दिन पहले बनायी थी और बनाकर नीचे लिख दिया था :—
"आधुनिक समाज!"

"वाकई यह एक मौलिक और अनूठा विचार है!" उसने सस्वर कहा और मूर्ति की ओर यों देखना शुरू किया जैसे वह किसी अन्य व्यक्ति की कृति हो और खुद उसने इसे पहली बार देखा हो।

मूर्ति का निचला भाग काफी ठोस और विस्तृत था। पर ऊपर उठते-उठते शिखर पर जो गुम्बद-सा बन गया था, वह ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा और एक तरफ को झुका-झुका सा जान पड़ता था कि अब गिरा, अब गिरा। वैसे मूर्ति साधारण थी, पर ध्यान से देखा जाय तो उसमें आधुनिक समाज की वक्रता और क्रूरता साकार हो उठी थी। ऊपर से नीचे तक चाहे एक ही चीज थी, पर वह अलग-अलग तहों में बंटी हुई थी। देखने वाले पर वास्तविक प्रभाव यह पड़ता था कि इन तहों के भीतर शोषण के काले विषैले नाग अपनी जीभें लपलपा रहे हैं।

अनिल को अपनी यह कृति विशेष रूप से पसंद थी और बन

जाने के बाद जब मोंगा ने इसे देखा तो अनिल ने विद्रूप भाव से कहा था : "क्यों मोंगा, यही है न तुम्हारा समाज ?"

"बिलकुल यही है, पर...." मोंगा ने मूर्तिकार अनिल के मुख पर आंखें गड़ाकर उत्तर दिया था, "यह समाज सिर्फ मेरा ही नहीं, तुम्हारा भी है। हम सबका है।"

और वह खिलखिलाकर हंस पड़ा था।

अनिल को लगा कि मोंगा की यह हंसी अब भी कमरे में गूंज रही है और उसके विद्रूप का उत्तर विद्रुप में भयंकर विद्रूप में दे रही है।

अनिल और सब कुछ भूल कर अपने और मोंगा के आपसी सम्बन्ध पर विचार करने लगा। उसे महन्त को पटाने की, पांच हजार रुपये के चैक की और मोंगा को नोट उठा-उठाकर निगलने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित करने की बात स्मरण हो आयी।

वह कुछ क्षण शान्त और स्थिर बैठा सोचता रहा, फिर शरीर को झटक कर सहसा उठा और फर्श पर पड़े बेकार कैन्वस को समेटने लगा।

"बाप रे, इसे भी कंडम कर दिया!"

अनिल ने पलट कर देखा। उसकी पत्नी हेमला आश्चर्य-चिन्ह बनी सामने खड़ी थी।

"कंडम किया नहीं, हो गया।" अनिल ने धीरे से उत्तर दिया।

"पर तुम तो बहुत खुश थे और कहते थे कि इस बार चित्र ठीक बन रहा है।"

प्रदान करते हैं, उसे प्रेरणा देते हैं और उसमें स्फूर्ति और उत्साह का संचार करते हैं।

मगर संसार में स्थिरता कहां है? जब अविरल अबाध गति से घूमते रहना ही पृथ्वी का स्वभाव है तो समय स्थिर कैसे रहेगा? इस क्षण को भी बीतना था और वह बीता। अनिल ने सिर ऊपर उठाया, होठों तक सीमित मुस्कुराहट कानों तक फैल गयी और उसने एक दृढ़ भाव से इधर-उधर देखा। अन्त में उसकी दृष्टि एक मूर्ति पर जाकर रुक गयी। यह मूर्ति उसने कुछ दिन पहले बनायी थी और बनाकर नीचे लिख दिया था :—
'आधुनिक समाज!"

"वाकई यह एक मौलिक और अनूठा विचार है!" उसने सस्वर कहा और मूर्ति की ओर यों देखना शुरू किया जैसे वह किसी अन्य व्यक्ति की कृति हो और खुद उसने इसे पहली बार देखा हो।

मूर्ति का निचला भाग काफी ठोस और विस्तृत था। पर ऊपर उठते-उठते शिखर पर जो गुम्बद-सा बन गया था, वह ऐसा टेढ़ा-मेढ़ा और एक तरफ को झुका-झुका सा जान पड़ता था कि अब गिरा, अब गिरा। वैसे मूर्ति साधारण थी, पर ध्यान से देखा जाय तो उसमें आधुनिक समाज की वक्रता और क्रूरता साकार हो उठी थी। ऊपर से नीचे तक चाहे एक ही चीज थी, पर वह अलग-अलग तहों में बंटी हुई थी। देखने वाले पर वास्तविक प्रभाव यह पड़ता था कि इन तहों के भीतर शोषण के काले विषैले नाग अपनी जीभें लपलपा रहे हैं।

अनिल को अपनी यह कृति विशेष रूप से पसंद थी और बन

जाने के बाद जब मोंगा ने इसे देखा तो अनिल ने विद्रूप भाव से कहा था : "क्यों मोंगा, यही है न तुम्हारा समाज ?"

"बिलकुल यही है, पर...." मोंगा ने मूर्तिकार अनिल के मुख पर आंखें गड़ाकर उत्तर दिया था, "यह समाज सिर्फ मेरा ही नहीं, तुम्हारा भी है। हम सबका है।"

और वह खिलखिलाकर हंस पड़ा था।

अनिल को लगा कि मोंगा की यह हंसी अब भी कमरे में गूंज रही है और उसके विद्रूप का उत्तर विद्रुप में भयंकर विद्रूप में दे रही है।

अनिल और सब कुछ भूल कर अपने और मोंगा के आपसी सम्बन्ध पर विचार करने लगा। उसे महन्त को पटाने की, पांच हजार रुपये के चैक की और मोंगा को नोट उठा-उठाकर निग-लने वाले व्यक्ति के रूप में चित्रित करने की बात स्मरण हो आयी।

वह कुछ क्षण शान्त और स्थिर बैठा सोचता रहा, फिर शरीर को झटक कर सहसा उठा और फर्श पर पड़े बेकार कैन्वस को समेटने लगा।

"बाप रे, इसे भी कंडम कर दिया !"

अनिल ने पलट कर देखा। उसकी पत्नी हेमला आश्चर्य-चिन्ह बनी सामने खड़ी थी।

"कंडम किया नहीं, हो गया।" अनिल ने धीरे से उत्तर दिया।

"पर तुम तो बहुत खुश थे और कहते थे कि इस बार चित्र ठीक बन रहा है।"

"ठीक बनते-बनते फिर बिगड़ गया। यह देखो।" अनिल नें कैन्वस को धरती पर फैला दिया और उस पर अंगुली फेरते हुए कहा, "यहां यह नीला रंग अधिक गहरा हो गया है और यहां पीला कुछ और उभरना चाहिए था। इसके अलावा चट्टानों की ऊंचाई का अनुपात भी ठीक नहीं है।"

हेमला ध्यान से कैन्वस की ओर देख रही थी और उसकी बड़ी-बड़ी स्याह आंखों से यह भाव व्यक्त हो रहा था कि वह पति के हर शब्द को हृदयंगम कर रही है।

"वातावरण जैसा मैं चाहता था वैसा बन नहीं पाया।" अनिल ने बात जारी रखी, पर उसके स्वर में विक्षोभ और निराशा के बजाय उत्साह था, "किसी भी मौलिक विचार को साकार बनाना बड़ा ही कठिन कार्य है।"

हेमला ने स्वर की इस तब्दीली को पहचाना और वह कारण भी समझ गयी। इसलिए कुछ बोली नहीं, पति पर एक स्निग्ध दृष्टि डालकर हल्के से मुस्कुरायी।

इस चित्र के लिए अनिल ने चौथा कैन्वस बदला था। उसकी उम्र पचास के करीब थी, कनपटियों के पास बाल सफेद हो चुके थे, चेहरे पर झुर्रियां पड़ चलीं थीं, जिससे मुख गम्भीर और प्रौढ़ जान पड़ता था। कला की साधना करते उम्र घिस गयी थी। कई बार तूलिका के दो-चार हाथ चलाकर ही वह एक सुन्दर चीज उरेहने में सफल हो जाता, लेकिन बाज मर्तबा एक ही चीज पर बहुत मेहनत करनी पड़ती। जब तक किसी चित्र अथवा मूर्ति से वह खुद सन्तुष्ट न हो जाय, उसे बार-बार बनाने में वह ऊबता-घबराता नहीं था।

"अब इसे फिर से बनाओगे ?"

"हां !" अनिल ने उत्तर दिया और नये सफेद कैन्वस की ओर देखते हुए चुटकी बजाकर कहा, "अब मै इसे यों बना दूंगा। बीच में छोड़ देने से सन्तुलन ठीक नहीं रहता। अधूरे चित्र को दोबारा शुरू करते समय भाव और मूड़ बदल जाता है और बदले हुए मूड के अनुसार रंग भी फिर से भरने पड़ते हैं।"

अनिल अपने अनुभव की बात अत्यन्त मनोयोग और तत्परता से कह रहा था। उसे यह ध्यान तक नहीं था कि कला की जिस टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी पर वह सहज में चल रहा है, दूसरा अनभिज्ञ व्यक्ति भी उसके साथ चल सकेगा अथवा पीछे छूट जायगा। उसकी निरंतर संगति के कारण हेमला किसी चित्र अथवा मूर्ति के भाव और सौन्दर्य को अब सहज में समझ लेती थी और तत्सम्बन्धी बातों में रस ग्रहण करती थी। मगर जब अनिल इस डगर से हटकर तकनीक की भूल-भुलैयों में उतर जाता, रंग, सन्तुलन और अनुपात आदि की चर्चा ले बैठता तो उसके पल्ले कुछ न पड़ता।

"अच्छा, चलो। पहले नाश्ता करलो।" हेमला बोली।

"ऐं, क्या मैंने अभी तक नाश्ता नहीं किया ?" अनिल ने सरल और निरीह भाव से पत्नी की ओर देखा।

उनका रिहायशी मकान भी स्टुडियो से सटा हुआ था। उसमें दो कमरे और एक किचन था। एक कमरा जो अपेक्षाकृत बड़ा था, सामान रखने और सोने के काम आता था। दूसरे को ड्राईंग रूम बना रखा था और वे भोजन और नाश्ता भी वहीं लेते थे।

"बच्चे कहां हैं ?" अनिल ने कुर्सी पर बैठते हुए पूछा।

"स्कूल गये हैं।"

"उन्हें छुट्टी नहीं थी ?"

"छुट्टी कल थी। हर रोज छुट्टी नहीं होती। आपको शायद मालूम नहीं कि आज सोमवार है।" हेमला व्यंग्य-भाव से मुस्कुरायी।

"अच्छा, अच्छा।" अनिल ने अनमना-सा पत्नी की ओर देखा और चुप हो रहा।

वह देख चाहे सब कुछ रहा था, पर उसके होंठ भिचे हुए थे और वह अपने आप में खोया-खोया चित्र ही की बात सोच रहा था। हेमला ने चाय बनाकर प्याला उसके सामने रखा तो उसने धीरे से एक घूंट भरा और फिर कहा: "दिमाग पर जो एक बोझ लदा हुआ था, वह उतर गया, अब काम आराम से होगा।"

उसने ये शब्द पत्नी से नहीं अपने आपसे कहे थे उसका अभिप्राय शायद कैन्वस बदलने से था। लेकिन हेमला ने कुछ दूसरा ही अर्थ समझा और अपनी लम्बी-लम्बी पलकें ऊपर उठा कर कहा :—

"बोझ कहां उतरता है, वह तो बना ही रहेगा।"

और उसने एक कौतूहल भरी दृष्टि पति पर डाली।

"ठीक है, ठीक है!" अनिल ने चाय की एक लम्बी चुस्की ली और कन्धे यों हिलाये जैसे नींद से जगा हो। 'चलो' आज शापिंग करेंगे।"

"फुर्सत रहेगी ?"

"फुर्सत ही फुर्सत है।"

वह सानन्द मुस्कुराया। कुछ क्षण खिड़कियों और दरवाजों की ओर देखते रहने के बाद फिर कहा : "ये सारे पर्दे बदल डालो। मेजपोश, गिलाफ और चादरें भी बदल दो। जो कुछ भी मैला, भद्दा और पुराना है, मुझे एक आंख नहीं भाता। यह कलाकार का घर है, कबाड़ी की दुकान नहीं है। यहां हर चीज़ नयी, सुन्दर और स्वच्छ होनी चाहिए। क्यों ठीक है न, महारानी जी ?"

"जब तुम्हारा अपना जी महाराज बनने को चाहता है, तो तुम मुझे महारानी कह लेते हो।"

"हा, हा, हा !"

वह खिलखिलाकर हंसा और एक भरपूर नजर पत्नी पर डाली। हेमला के काले, लम्बे, सुन्दर बाल कमर पर लहरा रहे थे।

"लाओ, प्याला दो-चाय बना दूं।"

"ठहरो, टोस्ट आ लेने दो।"

करीब ही तिपाई पर एक पत्रिका रखी थी। अनिल ने यों ही उसे उठा लिया और वह कवर पर बने हुए चित्र को ध्यान से देखने लगा। "वाह, वाह !" वह झूम उठा और पत्नी का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके बोला, "देखो, इधर देखो। और इस चित्र से उस मूर्ति के अनुमप सौन्दर्य की कल्पना करो।"

"कौन सी मूर्ति !" हेमला ने आगे को झुकते हुए पूछा।

"यह चित्र जिसका प्रतिरूप है।"

हेमला को कहानी पढ़ने का शौक था और इसलिए वह यह

कहानी-पत्रिका कल बाजार से खरीद लायी थी। रात इसमें से उसने कुछ कहानियां पढ़ी थीं, पर चित्र की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया था। अब जब अनिल ने उसे बताया कि यह चित्र फ्रांस के सुप्रसिद्ध मूर्तिकार अगस्त रोंदा की शाहकार मूर्ति का प्रतिरूप है, तो उसके मन में भी उत्सुकता जागी और वह भी इसे ध्यान से देखने लगी।

"रोंदा की इस कलाकृति का नाम विचार-मग्ना है। यह एक अद्भुत कृति है। इसकी तुलना संसार की किसी दूसरी कला-वस्तु से नहीं हो सकती।"

अनिल की आंखें चित्र पर केन्द्रित थीं और उसका चेहरा प्रसन्नता से खिल उठा था। चित्र हेमला को भी आकर्षक जान पड़ा और वह मेज पर झुकी उसे देख रही थी।

इसी समय बसन्ता टोस्ट लेकर भीतर आया। पति-पत्नी को चित्र पर झुके देखकर वह ठिठक गया और उनकी दृष्टि का अनुसरण करते हुए वह भी उसे देखने लगा।

"बसन्ते!"

थोड़ी देर बाद जब वह वापस जाने लगा तो अनिल ने उसे टोका।

"जी सा' ब!" उसने पलट कर कहा।

"इधर आओ।"

बसन्ता जब निकट आ गया तो अनिल ने उसका कन्धा थपथपाते हुए सस्नेह पूछा: "बताओ, तस्वीर में क्या देखा?"

"तस्वीर में?" उसने सिर खुजलाते हुए दोहराया।

"हां तस्वीर में।"

"सा' ब, एक औरत है।"

"कैसी औरत ?"

एक क्षण मौन का बीता। बसन्ते ने एक बार अनिल की ओर एक बार चित्र को देखा और फिर आत्मा का समस्त बल लगाकर झेंपते हुए कहा :—

"सा' ब, यह औरत दुखी मालूम होती है।"

"दुखी !" अनिल चौंका।

"हां सा' ब, इसके चेहरे पर दुख और पीड़ा ......"

"इसके मुख पर दुख और पीड़ा अंकित है। हा हा हा ! इसके मुख पर दुख और पीड़ा अंकित है ......"

अनिल खिलखिला कर हंस रहा था और बसन्ता विमूढ़-सा चित्रकार के मुख की ओर देख रहा था।

"बसन्ते ! तुम कला को नहीं पहचानते। कला तुम से दूर-बहुत दूर है।"

अनिल सिर हिलाते हुए बोला। वाक्य समाप्त होने के उपरान्त भी सिर बराबर हिलता रहा और मुख मुद्रा गम्भीर हो गयी। नौकर के मुख पर आंखें गड़ाकर वह फिर बोला—"इधर आओ ! यह तस्वीर अपने हाथ में थामो और इसे ध्यान से देखो।"

बसन्ते ने आदेश का पालन किया।

बसन्ते की आंखें तस्वीर पर गड़ी हुई थीं और हेमलता पति की ओर देख रही थी। कमरे में नितान्त निस्तब्धता थी।

"सा' ब ठीक है।" बसन्ते ने कहा और पत्रिका मेज पर रख दी।

"क्या ठीक है ?" अनिल की प्रश्न-सूचक दृष्टि उसके मुख पर पड़ रही थी। वसन्ता घबरा गया और सिर खुजलाने लगा।

"सा' ब, वह—कुछ—सो--सोच रही है।" उसने हकलाते हुए कहा।

"सोच रही है ना ?" अनिल की आंखें चमक उठीं।

"हां सा' ब, सोच रही है।" उत्तर मिला।

"अब तुमने ठीक समझा," अनिल बोला और चित्र की ओर संकेत करके बात जारी रखी, "इधर देखो। औरत की आंखें आधी खुली हैं। उन पर पलकों का बोझ है, चेहरा गम्भीर है और उसके मन में कोई अनूठा विचार है। अर्थात वह सोच रही है। यह तुमने ठीक समझा, बिलकुल ठीक समझा। जाओ, अब तुम अपना काम करो।

वसन्ता जब चला तो वह मुस्कुरा रहा था और अनिल भी मुस्कुरा रहा था जैसे चित्र के भाव को बसन्ते ही ने नहीं खुद उसने भी पहली बार समझा हो। "चाय पियो।" हेमला ने नया प्याला बनाकर पति की ओर सरका दिया।

अनिल ने दो-तीन घूंट आहिस्ता-आहिस्ता पिये और फिर सारी चाय एकदम सुड़क कर पत्नी से कहा, "उठो, तैयार हो जाओ।"

"क्या अभी चलोगे ?"

"और क्या ! शुभ कार्य में देर नहीं होनी चाहिए।" वह मुस्कुराया और तनिक रुक कर फिर कहा, "हाथ के पैसे खत्म हो गये तो यह साध भी मन की मन में रह जायेगी।"

चार

बनारस एक प्राचीन नगर है। बहुत से बंगाली परिवार शायद प्राचीन काल ही से वहां रहते हैं। रहते-रहते इतना समय बीत गया है कि वे अब बनारस ही के निवासी बन चुके हैं। बंगाली भाषा और संस्कृति से उनका लगाव बराबर बना हुआ है, पर वे हिन्दी और संस्कृत भी पढ़ते हैं, जिससे उनके चरित्र का दोहरा विकास होता है। कुछ परिवारों में जो अधिक सम्य और उन्नत है, धार्मिक कट्टरता बिलकुल नहीं है कला और साहित्य को उनकी विशेष देन है। कुछ नाम तो इतने प्रसिद्ध हैं कि समूचा राष्ट्र उन पर गर्व करता है।

अनिल का पालन-पोषण भी बनारस के एक ऐसे ही परिवार में हुआ था। उसके चाचा श्री उल्हासकार एक प्रसिद्ध चित्रकार थे और उन्हें उन्नीसवीं सदी के अन्त में भारतीय चित्रकला को एक नयी दिशा प्रदान करने का श्रेय प्राप्त था। उस समय हमारी तमाम ललित कलाओं पर पश्चिम का प्रभाव पड़ रहा था। निस्सन्देह वह भी पश्चिम से प्रभावित हुए, लेकिन उन्होंने नई तकनीक और नई भाव-भूमि के साथ भारतीय परम्परा का साप-

जस्य स्थापित किया। वह एक ऐसे शिल्पी थे, जिन्होंने सबसे पहले संस्कृत साहित्य में वर्णित नायिका एवं प्रसिद्ध घटनाओं के आधार पर तैल चित्रों का निर्माण किया।

महा जागरण का सुन्दर-स्निग्ध प्रभात था। नव चेतना की दुन्दुभि बज रही थी। राष्ट्र ने हीनता भाव को झटक कर रीढ़ की हड्डी सीधी की थी। अतीत में झांक कर उसकी गौरव-गरिमा का एक-एक स्थल उभारा जा रहा था। 'स्वराज्य हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है' में भी यही स्वर ध्वनित हुआ था। उल्हासकर ने भी पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों के माध्यम से इन्हीं भावनाओं को उरेहा और वह आधुनिक चित्रकला के जन्मदाता कहलाये।

अनिल के माता-पिता बचपन में ही मर गये थे, इसलिए उसका पालन-पोषण चाचा के घर में हुआ। परिवार बहुत ही संक्षिप्त था। अर्चना और रोहिणी चाचा की दो लड़कियाँ थीं। उन्होंने अनील को हमेशा अपना भाई समझा। तीनों बच्चे लाड-प्यार में पलते रहे और धीरे-धीरे बड़े हुए।

बीसवीं सदी के पहले दशक में उल्लासकर के चित्रों की खूब धूमधाम थी, जो दूसरे में कम होती चली गयी और उसके बाद तो उनका युग ही समाप्त हो गया। लेकिन मान-प्रतिष्ठा बनी हुई थी और वह यों भी उदार-हृदय शिक्षित व्यक्ति थे बड़े-बड़े विचारक, दार्शनिक, साहित्यकार और कलाकार उनसे मिलने आते थे, इतिहास, दर्शन, राजनीति—हर प्रकार की चर्चा रहती थी। तीनों बच्चे इसी माहौल में बड़े हुए। उन्हें अध्ययन का भी शौक था, और वे युग-चेतना से भी प्रभावित थे। इसलिए उनका सोचने का, उठने-बैठने और बात करने का ढंग ही अलग था।

उल्हासकर की उदारता और महानता यह थी कि वह इस रूख से ज़रा भी विचलित नहीं थे। उनकी बातें बड़े प्यार से सुनते और फिर आशीर्वाद के लहजे में कहते – "हमने अपने युग की भूमिका अदा कर दी। नये युग की भूमिका नयी पीढ़ी को अदा करनी है और वह जैसा भी उचित समझे करे। यह हमारी कोई चिन्ता नहीं।"

दिसम्बर सन् १६२६ में जब उनका देहान्त हुआ तो उनकी उम्र छप्पन के करीब थी।

छोटी लड़की रोहिणी की शादी हो चुकी थी। लेकिन अर्चना तीस-इकत्तीस साल की अवस्था को पहुँच कर भी अविवाहित थी, और जीवन अविवाहित रहकर बिताने का निश्चय कर चुकी थी। उसने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। वह प्रखर बुद्धि की लड़की थी और अपने आपको योग्य पिता की योग्य पुत्री कहलाने में गर्व महसूस करती थी। इतिहास, दर्शन और संस्कृत आदि विषयों पर होने वाली बहसों में वह बड़ी तत्परता से भाग लेती और निस्सन्देह इसमें वह अपनी योग्यता का परिचय देती, लेकिन कई बार वह सिर्फ योग्यता दरशाने के लिए ही बहस छेड़ती और प्रतिपक्षी को छकाने में मजा लेती थी।

अविवाहित रहने का कारण भी यही था कि इसे अपने बौद्धिक स्तर का कोई पुरुष नहीं मिला था और न आगे मिलने की आशा थी। बहुत से नवयुवक ब्याह के इच्छुक थे, पर उनकी इच्छा अर्चना की इच्छा न बन सकी। उसका कहना था कि जब पुरुष ब्याह से पहले स्त्री के गुण स्वभाव को परखता है और चाहता है कि उसकी भावी पत्नी उसके मन के अनुरूप हो तो क्या एक नारी को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि जो पुरुष उसका

पति बनना चाहता है, वह उसकी योग्यता को देखे और अगर वह ज्ञान और बुद्धि में उससे हेठा है तो उसे अस्वीकार कर दे। अतएव जितने भी नवयुवक अर्चना के सम्पर्क में आये उसने उन्हें ज्ञान और बुद्धि में अपने से बहुत निम्न स्तर का पाया और आजीवन अविवाहित रहने का निश्चय कर लिया। स्वयम्बर की प्रथा बहुत पहले खत्म हो चुकी थी, और अब ऐसी कोई प्रथा तथा उपाय नहीं था, जिससे वह सारे देश के नवयुवकों की बुद्धि-परीक्षा ले सकती। फर-फर अंग्रेजी बोलने वाले तथा कथित शिक्षित और सूटेड-बूटेड नौजवान उसे एक आंख नहीं भाते थे। वह उनके रूप रंग, सामाजिक स्थिति और पद से प्रभावित होने कि बजाय उन्हें एक विदेशी सभ्यता के मानसिक दास समझती थी। वह आदर्श युवक उसे मानती थी जो आधुनिक भी हो और जिसने भारतीय चिन्तन के स्वस्थ तत्वों को आत्मसात किया हो। सम्भव था ढूंढने से ऐसा युवक मिल जाता, पर ढूंढने का कोई साधन नहीं था। इसलिए अर्चना की यह धारणा बन गयी थी कि स्वामी विवेकानन्द के बाद कोई ऐसा युवक पैदा हो नहीं हुआ। अतएव वह अविवाहित जीवन बिताकर भारतीय नारी के गौरव-गरिमा की रक्षा कर रही थी।

रोहिणी की तरह अनिल भी अर्चना से दो-तीन साल छोटा था। उसका परिवार के सांस्कृतिक वातावरण से प्रभावित होना स्वाभाविक बात थी। वह पढ़ने लिखने में तेज था और चित्र एवं मूर्तियां बनाने में उसकी विशेष रुचि थी। कॉलेज तक पहुँचते-पहुँचते उसने संस्कृत के माध्यम से पुराण और उपनिषद पढ़े थे, प्राचीन इतिहास, दर्शन और विभिन्न विचार धाराओं का गहरा अध्ययन किया था। शुरू में वह हिन्दू मत के बजाय बुद्ध

मत से अधिक प्रभावित था और उसने महात्मा बुद्ध के कई चित्रों और मूर्तियों का निर्माण किया था। कारण शायद यह रहा हो कि बुद्ध के दर्शन का केन्द्र-बिन्दु तर्क था और तर्क उसके अपने चिन्तन के विकास में सहायक सिद्ध होता था। लेकिन धीरे-धीरे उसमें एक मानसिक परिवर्तन आया और ज्योंहि उसने स्कूल छोड़ कर कॉलेज में प्रवेश किया वह पुस्तक-ज्ञान के बजाय प्रकृति की ओर अधिक-अधिक प्रवृत्त होता चला गया।

अनिल को अब कमरे में बैठकर पुस्तक पढ़ने, अर्चना से बहस करने अथवा सारनाथ और काशी के मंदिरों में मूर्तियां और चित्र देखने के बजाय नीले आकाश के नीचे प्रकृति की गोद में विचरना अधिक पसन्द था। वह रात को घर से दूर खेतों में अथवा गंगा के किनारे निकल जाता और चांदनी में शान्त और निस्तब्ध प्रकृति के साथ तादात्म्य अनुभव करता। उसने 'गंगा तट' और 'निशा' आदि कुछ नये चित्र भी बनाये। चित्र सफल नहीं बन पड़े। वे एक नवयुवक कलाकार की प्रकृति को भावुकतामय श्रद्धांजलि मात्र थे। दरअसल वह अभी प्रकृति क्या अपनी नई प्रवृत्ति तक से भलीभांति परिचित नहीं था।

सहसा एक दिन एक छोटी सी घटना घटित हुई और अनिल अर्चना के साथ बहस में उलझ गया। बहन-भाई में बहसें अक्सर होती थीं, अनिल ने इन बहसों में बहुत कुछ सीखा था। और अब भी अर्चना के शब्दों ने उसकी अस्पष्ट भावनाओं को स्पष्ट कर दिया और उसने अनजाने ही एक नयी दिशा की ओर इंगित किया।

हेमला की मां एक बंगाली महिला थी, जिसने लखनऊ के रामेश्वर तिवाड़ी के साथ स्वेच्छा से ब्याह किया था। तिवाड़ी

इंजीनियरिंग विभाग में एक गजटेड आफिसर था और अपनी नौकरी के सिलसिले में कई साल तक बनारस में रहा। वहां वह कमच्छा में उल्हासकर का पड़ोसी था। उस समय हेमला की उम्र अठारह-उन्नीस साल की थी। उसका रंग सांवला, लेकिन नयन-नक्श तीखे और आकर्षक थे। वह अपने पड़ोसी बंगाली परिवार से जल्द हिल-मिल गयी। कारण यह कि एक तो वह सरल स्वभाव की मिलनसार लड़की थी, दूसरे जहां इन लोगों की तरह उसने हिन्दी सीखी थी, वहां बंगाली उसकी मातृभाषा थी। शरत और रवीन्द्र की पुस्तकें वह बड़े चाव से पढ़ती थी।

जब हेमला ने इस परिवार में आना-जाना शुरू किया, रोहिणी का उन्हीं दिनों ब्याह हुआ था। अर्चना में जहां बुद्धि-विलासिता का दोष था, वहां उसमें कई गुण भी थे। मिसाल के तौर पर वह बच्चों में सबसे बड़ी होने के कारण परिवार की मान-मर्यादा का विशेष ध्यान रखती थी, छोटी बहन और अनिल से प्यार करती थी। रोहिणी के चले जाने पर वह अपने भीतर एक रिक्तता महसूस करने लगी थी। हेमला ने इस रिक्तता को भर दिया और अर्चना के मन में सहज ही छोटी बहन का स्थान ग्रहण कर लिया। अवस्था में पांच छः साल का अन्तर होने के बावजूद वे दोनों कुछ ही दिनों में अन्तरंग सखियां बन गयीं।

एक दिन अर्चना, अनिल और हेमला गंगा पर सैर के लिए गये। उन्होंने एक नाव किराये पर ली और उसमें बैठकर नदी में दूर निकल गये। अनिल चप्पू चला रहा था और दोनों सखियां आपस में बतिया रही थीं। जून का महिना था। दिन भर की गर्मी के बाद सूर्यास्त का दृश्य, जल का प्रवाह और नाव की यह सैर बड़ी सुहावनी जान पड़ती थी। संध्या की लालिमा से ऊपर

आकाश रंजित था और नीचे सूर्य की अन्तिम किरणें नदी में प्रति-बिम्बित होकर जलराशि को रंजित बना रही थीं। वातावरण शान्त और निस्तब्ध था। प्रकृति की खामोशी में कोई मधुर राग घुला हुआ था, जिसे दोनों सखियां भी चुपचाप सुन रही थी। नाव बहाव के साथ धीरे-धीरे चल रही थी। अनिल ने चप्पू पर हाथ ढीला करके और सामने की ओर देखते हुए कहा :

"इस समय प्रकृति का एक-एक अणु-प्रमाणु चेतन, कोमल और सूक्ष्म जान पड़ता है। मनुष्य के मन में सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की जो आकांक्षा है, प्रकृति उसका भव्य रूप है। फिर भी जाने क्यों हम उससे दूर भागते हैं, उसे देखने समझने का तनिक भी प्रयास नहीं करते।"

"तुम भूल कर रहे हो, अनिल!" कल्पना ने झट प्रतिवाद किया, "अपने शैशव काल में मनुष्य ने, प्रकृति को बहुत देखा और समझा है। वेदमंत्रों में प्रकृति के इस भव्य रूप का जो गुण-गान हुआ है, वह तुम्हें किसी दूसरी जगह नहीं मिलेगा। उप-निषदों तक में इसके सुन्दर उदाहरण मिलते हैं। एक श्लोक सुनो, मुझे यों ही याद आ गया है।" अर्चना ने लय से श्लोक दोहराया और फिर हेमलता के लिए हिन्दी में उसका अर्थ बताया—"हे रात्री, तुम कल्याणमयी हो, तुम सब ओर व्याप्त होकर, पृथ्वी रूप हो गयी हो। हे चिक्षुण्मती, तुमने आकाश के नक्षत्रों से अपने शरीर का शृंगार किया है।"

"बहुत खूब! यह सब ओर व्याप्त लालिमा इसी कल्याणमयी रात्रि का स्वागत कर रही है।" अनिल ने प्रकृति के सुन्दर दृश्य से आनन्द-विभोर होकर सहज स्वभाव से एक बात कही थी, अब फिर उसी आनन्दभाव को व्यक्त किया और चप्पू पर जोर

देकर नाव को यों आगे बढ़ाया, जैसे बात यहीं खत्म हो जायगी।

लेकिन अर्चना की मनोस्थिति अनिल से भिन्न थी। प्राकृतिक दृश्य का आनंद लेने के बजाय उसने बात को दार्शनिक ढंग से आगे बढ़ाते हुए कहा : "फिर जब मनुष्य का शैशव काल समाप्त हुआ, उसका अनुभव बढ़ा, ज्ञान बढ़ा और सुख के कुछ भौतिक साधन भी प्राप्त हो गये तो उसने आत्मा-परमात्मा के बारे में सोचना शुरू किया। तब उसे प्रकृति के भव्य रूप में भी ब्रह्म की सत्ता दिखायी देने लगी। उसकी इस सोच का नाम वेदान्त दर्शन है अर्थात् यहीं से वेदों के युग का अन्त होता है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जब "बहुरूप" हो जाने की इच्छा करता है तो अपनी लीला द्वारा सृष्टि रच देता है।" वह तनिक रुकी और भाई के कन्धे पर हाथ रखकर बोली, "अनिल, नाव जरा धीरे चलाओ और मेरी बात सुनो। वेदान्त दर्शन के प्रवर्तक बादरायण व्यास थे। इस पर अनेक आचार्यों ने भाष्य लिखे जिससे वेदान्तियों के अलग-अलग सम्प्रदाय बने। ......"

"देखो दीदी।" अनिल ने उसकी बात काट कर कहा, "मुझे वेदान्त और उसके सम्प्रदायों से कोई प्रयोजन नहीं। मैं न द्वैतवादी हूँ और न अद्वैतवादी। प्रकृति के एक सुन्दर दृश्य से मेरे हृदय पर जो प्रतिक्रिया होती है, मैं सिर्फ उसे व्यक्त कर रहा हूँ।"

"अर्थात् तुम हृदयवादी हो।" अर्चना मुस्करायी।

"हाँ, अगर आपको कुछ न कुछ वादी अवश्य कहना है, तो मुझे हृदयवादी कह लीजिए।" अनिल भी मुस्कुराया और उसने बात जारी रखी, "प्रकृति के व्यापारों में मुझे पूर्णता का आभास

होता है और मैं अपनी इस अनुभूति को चित्रित करने का प्रयास करता हूँ।"

"पर तुम यह भी तो सोचो कि तुम्हारा यह प्रयास सफल क्यों नहीं होता।" अर्चना ने उसकी ओर देखते हुए और मुस्कुराते हुए धीरे-धीरे कहा, "जब तक मनुष्य के चिन्तन में गहराई न हो, उसकी कला में गहराई पैदा नहीं आती। तुम्हें अगर सचमुच, पूर्णता को चित्रित करना है तो पहले अपने भीतर पूर्णता लानी होगी। और यह भी सुन रखो कि एक चार-दीवारी में बन्द होकर और परम्परा से बंधे रहकर पूर्णता को कभी नहीं पा सकोगे। जानते हो, यह हमारा देश कितना महान् है? कभी इस महानता को पहचाना? इसके पहाड़ों, जंगलों और समुद्रों को देखा? और कभी यह देखा कि जन-मानस पर प्राकृतिक दृश्यों की क्या प्रक्रिया होती है? अपने ही भीतर सिमट जाने से यह महानता भी सीमित और विकृत हो जाती है ......"

अर्चना जाने क्या-क्या कहती रही। अनिल चुप बैठा सुनता रहा और धीरे-धीरे चप्पू चलाता रहा और जब वह अपनी बात कह चुकी तो अनिल ने गर्दन हिलाते हुए विनोद भाव से कहा:- "समझा दीदी, समझा।"

"समझलो तो शायद कभी कलाकार भी बन जाओ।"

अर्चना का स्वर तीखा और कटु हो उठा था। दरअसल वह यह देखकर चिढ़ गई थी कि अनिल उसकी बात को परिहास में उड़ा देना चाहता है।

अनिल ने दीदी की यह कटुता बहुत सही थी, पर अब सही न गई, और जाने क्यों विशेष रूप से अखरी। उसने गहरी नज़र से अर्चना की ओर देखा, लेकिन कहा कुछ नहीं।

साहित्य, कला और दर्शन ऐसे ही किसी विषय को लेकर बहन-भाई में अक्सर लम्बी-चौड़ी बहसें होती थीं। हेमला चुप बैठी बड़े ध्यान से पक्ष-विपक्ष के तर्क सुनती और रस ग्रहण करती थी। बहन-भाई को चोंचे लड़ाते देख कई बार उसे विश्वास हो जाता था कि शरत और रवीन्द्र की कहानियों के पात्र कल्पित या मनगढ़न्त नहीं हैं, बौद्धिक स्तर पर बहसें करना बंगालियों का सहज स्वभाव है।

हेमला बहस में चाहे कोई भाग नहीं लेती थी, पर आंखों की चमक और होठों पर अनायास आ जाने वाली हल्की सी मुस्कान से यह स्पष्ट हो जाता था कि कौन सा तर्क उसके हृदय को छू रहा है और वह दोनों में से किसके पक्ष को सबल और न्याय संगत समझ रही है। अर्चना के स्वर में अनावश्यक रूप से झलक आने वाले दम्भ और कटुता को भी वह देखती थी और अनिल को उसकी मूक सहानुभूति प्राप्त होती थी। यों उसकी उपस्थिति जाने-अनजाने बहस को प्रभावित करती थी।

अनिल के मन पर हेमला के व्यक्तित्व का जो मूक प्रभाव पड़ा, उसी से वह अर्चना के वास्तविक रूप को समझ पाया। एक अगर बल्ब में चमकने वाली स्निग्ध ज्योति थी तो दूसरी तीव्र दीप-शिखा। हेमला जितनी शांत और गम्भीर थी अर्चना उतनी ही मुखर और चंचल। हेमला की समझ और बुद्धि शरीर में प्रवाहित रक्त की भांति उसके व्यक्तित्व का सहज अंग थी जबकि अर्चना में इसी समझ और बुद्धि ने दर्प और दम्भ का रूप धारण कर लिया था।

सम्भव है कि उन्हें परखने-आंकने में अनिल से कुछ भूल हुई हो। भूल होना यों भी स्वाभाविक था कि अर्चना बड़ी होकर भी

उसकी वही नन्हीं-मुन्नी दीदी थी, जिसके साथ वह बचपन ही से खेलता हंसता और वाद-विवाद करता आया था जबकि हेमला एक लम्बे कद की स्वस्थ और सुन्दर रमणी के रूप में उसके सामने आई थी। समझ और बुद्धि के अतिरिक्त अनिल का उसके रूप और लावण्य से प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। हेमला तो फिर हेमला थी जिसमें दो संस्कृतियों का समन्वय हुआ था, अनिल की अवस्था में एक युवक हर एक युवती में सिर्फ गुण ही गुण देखता है।

अनिल ने "दो सखियां" नाम का एक चित्र बनाया, जिसमें उसका यही मनोभाव चित्रित हुआ था।

हेमला ने यह चित्र देखा तो वह ठगी सी रह गयी। मुंह से तो कुछ नहीं बोली, पर आंखों में कृतज्ञता और प्रशंसा झलक आयी।

पर अर्चना चित्र देखते ही चिढ़ गयी। खीझ से उसकी मुख-मुद्रा मलिन पड़ गयी, निचला होंठ तनिक आगे को बढ़ आया। उसने चित्र पर हाथ रखकर आधा भाग यों ढ़ाप लिया कि सिर्फ हेमला ही हेमला दीख पड़े और फिर उसकी ओर संकेत करके अनिल से कहा— "अब इसके नीचे 'हृदय की रानी' लिख दो।"

अनिल ने बहन के मुख की ओर देखा और वह खिलखिला कर हंस पड़ा। हेमला ने भी सखी के मुख की ओर देखा, एकटक देखती रही और फिर सरल भाव से बोली : "क्यों अर्चना, क्या तुम्हें अपना चित्र पसंद नहीं आया ?"

"पसन्द, न पसन्द की बात नहीं। मेरा चित्र कदाचित गौण है, कलाकार की वास्तविक अनुभूति यही है।"

अर्चना ने "अनुभूति" शब्द पर विशेष बल दिया जो अनिल

साहित्य, कला और दर्शन ऐसे ही किसी विषय को लेकर बहन-भाई में अक्सर लम्बी-चौड़ी बहसें होती थीं। हेमला चुप बैठी बड़े ध्यान से पक्ष-विपक्ष के तर्क सुनती और रस ग्रहण करती थी। बहन-भाई को चोंचें लड़ाते देख कई बार उसे विश्वास हो जाता था कि शरत और रवीन्द्र की कहानियों के पात्र कल्पित या मनगढ़न्त नहीं हैं, बौद्धिक स्तर पर बहसें करना बंगालियों का सहज स्वभाव है।

हेमला बहस में चाहे कोई भाग नहीं लेती थी, पर आंखों की चमक और होठों पर अनायास आ जाने वाली हल्की सी मुस्कान से यह स्पष्ट हो जाता था कि कौन सा तर्क उसके हृदय को छू रहा है और वह दोनों में से किसके पक्ष को सबल और न्याय संगत समझ रही है। अर्चना के स्वर में अनावश्यक रूप से झलक आने वाले दम्भ और कटुता को भी वह देखती थी और अनिल को उसकी मूक सहानुभूति प्राप्त होती थी। यों उसकी उपस्थिति जाने-अनजाने बहस को प्रभावित करती थी।

अनिल के मन पर हेमला के व्यक्तित्व का जो मूक प्रभाव पड़ा, उसी से वह अर्चना के वास्तविक रूप को समझ पाया। एक अगर बल्ब में चमकने वाली स्निग्ध ज्योति थी तो दूसरी तीव्र दीप-शिखा। हेमला जितनी शांत और गम्भीर थी अर्चना उतनी ही मुखर और चंचल। हेमला की समझ और बुद्धि शरीर में प्रवाहित रक्त की भांति उसके व्यक्तित्व का सहज अंग थी जबकि अर्चना में इसी समझ और बुद्धि ने दर्प और दम्भ का रूप धारण कर लिया था।

सम्भव है कि उन्हें परखने-आंकने में अनिल से कुछ भूल हुई हो। भूल होना यों भी स्वाभाविक था कि अर्चना बड़ी होकर भी

उसकी वही नन्हीं-मुन्नी दीदी थी, जिसके साथ वह बचपन ही से खेलता हंसता और वाद-विवाद करता आया था जबकि हेमला एक लम्बे क़द की स्वस्थ और सुन्दर रमणी के रूप में उसके सामने आई थी। समझ और बुद्धि के अतिरिक्त अनिल का उसके रूप और लावण्य से प्रभावित होना भी स्वाभाविक था। हेमला तो फिर हेमला थी जिसमें दो संस्कृतियों का समन्वय हुआ था, अनिल की अवस्था में एक युवक हर एक युवती में सिर्फ गुण ही गुण देखता है।

अनिल ने "दो सखियां" नाम का एक चित्र बनाया, जिसमें उसका यही मनोभाव चित्रित हुआ था।

हेमला ने यह चित्र देखा तो वह ठगी सी रह गयी। मुंह से तो कुछ नहीं बोली, पर आंखों में कृतज्ञता और प्रशंसा झलक आयी।

पर अर्चना चित्र देखते ही चिढ़ गयी। खीझ से उसकी मुख-मुद्रा मलिन पड़ गयी, निचला होंठ तनिक आगे को बढ़ आया। उसने चित्र पर हाथ रखकर आधा भाग यों ढ़ाप लिया कि सिर्फ हेमला ही हेमला दीख पड़े और फिर उसकी ओर संकेत करके अनिल से कहा— "अब इसके नीचे 'हृदय की रानी' लिख दो।"

अनिल ने बहन के मुख की ओर देखा और वह खिलखिला कर हंस पड़ा। हेमला ने भी सखी के मुख की ओर देखा, एकटक देखती रही और फिर सरल भाव से बोली: "क्यों अर्चना, क्या तुम्हें अपना चित्र पसंद नहीं आया?"

"पसन्द, न पसन्द की बात नहीं। मेरा चित्र कदाचित गौण है, कलाकार की वास्तविक अनुभूति यही है।"

अर्चना ने "अनुभूति" शब्द पर विशेष बल दिया जो अनिल

पर व्यंग्य-प्रहार था। हेमला कुछ कहने के बजाय लजा गयी और उसके सांवले गालों पर वह लालिमा उभर आयी जो अनिल ने चित्र में भी अंकित की थी।

"चलो, मान लिया कि यही वास्तविक अनुभूति हैं। तब भी तुम्हरा चित्र गौण कैसे है ? "अनिल ने अर्चना की ओर देखते हुए धीमे स्वर में पूछा।

"मैं इसे गौण समझती हूं।"

"क्यों समझती हो ? यह भी तो बताओ।"

"बताऊं ? सुनोगे ? बुरा तो नहीं मान जाओगे ?"

उसके तीखे स्वर से हेमला सहम गयी।

"अगर तुम उचित बात कहोगी तो मैं बुरा क्यों मानने लगा।" अनिल ने उत्तर दिया और वह पहले से भी अधिक गम्भीर हो गया।

"उचित !" अर्चना ने विद्रूप भाव से दोहराया, "सम्भव है कि तुम मेरी उचित बात को भी अनुचित समझ लो, क्योंकि उचित-अनुचित के बारे में मेरे तुम्हारे मापदण्ड अलग-अलग हैं "हो सकते हैं।"

"यह तुम्हारी अपनी धारणा है। जहां तक मेरा सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ कि मेरा कोई विशेष मापदण्ड नहीं है।"

"विशेष मापदण्ड न होना ही तुम्हारे चिन्तन की सबसे बड़ी त्रुटि या भ्रान्ति है।" उसके स्वर में विद्रूप के साथ विक्षोभ भी झलक आया था। "तुमने उस दिन भी बड़े गर्व से कहा था कि मैं द्वैतवाद या अद्वैतवादी कुछ नहीं हूँ सिर्फ अपनी अनुभूतियां चित्रित करता हूँ। लेकिन बात इतनी सीधी और सरल नहीं है। तुम दर्शन से बचते भी हो और अपनी हीन

और तुच्छ अनुभूतियों को कला को पवित्र संज्ञा केलिए दर्शननदे का सहारा भी लेते हो।"

स्वर की कटुता से वातावरण विक्षुब्ध हो उठा। हेमला के गालों की लालिमा लुप्त हो गयी और वह चित्र से और सख्ती से नजरें हटाकर शून्य में झांकने लगी।

अनिल को नाव की घटना स्मरण हो आयी। अर्चना के उस दिन के शब्द आज के शब्दों में विलीन होकर ध्वनित-प्रतिध्वनित हो उठे।

"अपने इसी चित्र को लो।" अर्चना फिर बोली, "इसमें हेमला के साथ मेरा चित्र बनाकर और "दो सखियाँ" नाम रखकर तुमने व्यर्थ में दार्शनिक बनने का प्रयत्न किया है। तुम कहना शायद यह चाहते हो कि यह दो चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन है। अब इसे मेरी दृष्टि से देखो," और उसने अपनी आकृति को फिर छिपा लिया और आगे कहा, "तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यह अध्ययन-विध्ययन खाक नहीं, मनो-विकार मात्र है। अगर हेमला के बजाय कोई और युवती होती तो तुम्हें उसमें भी यही गुण, यही आकर्षण जान पड़ता।"

हेमला और अनिल की नज़रे एक क्षण के लिए मिली और सहसा झुक गयीं।

"इसमें तुम्हारी विशेषता क्या है?" अर्चना अपने स्वर की कटुता को खुद अनुभव कर रही थी, पर उसके लिए अपने आपको सयंत करना सम्भव नहीं था। अतएव उसने उसी स्वर में बात जारी रखी, "मैं फिर कहती हूँ कि अगर तुम्हें सचमुच कलाकार बनना है, तो हृदय के इस खोल को तोड़ो, चारदीवारी से बाहर

निकलो, दुनिया को समझो, प्रकृति को समझो और जन-मानस की अनुभूतियों को अपनी अनुभूतियां बनाओ।"

अर्चना चुप थी, पर उसके शब्द कमरे में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते रहे। वह इतनी उत्तेजित थी कि अब न कुछ सुन रही थी और न सोच रही थी। अपने इस रूप में वह एक ऐसी गौरवमय प्रतिमा जान पड़ती थी जो एक युग-सत्य को वाणी प्रदान करके हमेशा-हमेशा के लिए खामोश हो गयी हो।

"दीदी" अनिल ने एक संकल्प धारी व्यक्ति के गम्भीर स्वर में कहा, "तुमने मुझे जो सीख दी है, उसके लिए बहुत बहुत धन्यवाद। मैं इसे कभी नहीं भूलूँगा।"

अर्चना तटस्थ और स्थिर बैठी रही, जैसे उसने ये शब्द सुने हों न हों।

हे[illegible]ला ने चौंक कर अनिल की ओर देखा और वह देखती रह गयी।

•

पांच

इस घटना के तीसरे दिन अनिल घर में नहीं था। अर्चना को उसके हाथ का लिखा एक छोटा सा पुर्जा मिला। वह उसी के नाम था। अर्चना ने पढ़ा :

"दीदी, मैं दुनिया को देखने जा रहा हूं। आप लोग मेरे लिए तनिक भी चिन्ता न करें।"

घर छोड़ने के बाद वह बम्बई, कराची, काश्मीर, कांगड़ा आदि विभिन्न स्थानों पर घूमता रहा। अजनबी लोगों के दरम्यान जीवन बिताया, भूख-प्यास सही, अनेकों कष्ट झेले। पर इन से वह ज़रा भी नहीं घबराया। उसे तो अर्चना की सीख के अनुसार दुनियां को समझना और जनमानस की अनुभूतियों को अपनी अनुभूतियां बनाना था। छः सात साल घूम फिर लेने के बाद जब वह दिल्ली पहुँचा, तो उसके बहुत से भ्रम और बहुत-सी पुरानी मान्यताएं टूट चुकी थीं। जीवन के अनुभवों से उसने निश्चय ही बहुत कुछ सीखा था। वह अब एक अच्छा चित्रकार और बदला हुआ इंसान

ब्याह के बाद तीन-चार साल आराम से बीते। घर वालों से फिर सम्बन्ध स्थापित हुआ। अर्चना और रोहिणी दोनों दिल्ली आयीं। कुछ दिन उनके पास ठहरीं। जिस टहनी पर फूल खिले या फल लगे वह उस टहनी के मुकाबिले में जिस पर कुछ नहीं लगता जल्द कुम्हला जाती है। दोनों बहनों में यही अन्तर था। रोहिणी अब तीन बच्चों की मां थी, गालों का मांस तक ढलक गया था और उम्र में वह अर्चना से बड़ी मालूम होती थी और उसके मुख पर गृहणी के तप और त्याग की छाप भी अंकित थी। अर्चना भी बहुत बदल गयी थी। वह अब गम्भीर, शान्त और विवेकशील थी। उसकी तर्क-बुद्धि पहले की तरह उसके व्यक्तित्व पर हावी नहीं थी। वह दूसरों की भावनाओं का ध्यान रखती थी। बहस के लिए बहस नहीं छेड़ती थी बल्कि कई बार बहस के उचित अवसर पर भी चुप रह जाना बेहतर समझती थी। उसे अनिल के नये चित्र बहुत पसन्द आये। अपनी दीदी से उनकी प्रशंसा सुनकर कलाकार का मन प्रफुल्लित हो उठा और उसने कृतज्ञता में भरकर अर्चना की ओर देखा। घर छोड़ने के बाद उसने जो असीम अनुभव प्राप्त किया था, वह उसके चिन्तन में गुणात्मक परिवर्तन बनकर झलक आया था। पहले वह किसी प्राकृतिक दृश्य को चित्रित करने के लिए शोख़ रंगों का प्रयोग करता और निरीक्षण ही को यथार्थ मानकर विवरणों की भरमार कर देता। परिणाम स्वरूप स्थूल दृश्य उभर आता था, मानव हृदय की छाप और विवरणों का विवेकपूर्ण चुनाव प्रकृति के सौंदर्य को कला का जो रूप प्रदान करता है, चित्र में उसका सर्वथा अभाव रहता था। अनिल ने इस मर्म को पहले अनजाने और फिर सचेत रूप से समझ लिया था। अब वह थोड़े से रंगों और थोड़े से विवरणों

के साथ बहुत बड़ी बात कहने का प्रयास करता था। खिलन मर्ग का लैण्ड-स्केप एक ऐसा ही चित्र था। इस अकेले चित्र से उसका पूरा ड्राईंग रूम जगमगा उठा था मानों काश्मीर का सौन्दर्य कैन्वस पर सिमट आया हो।

अनिल प्रसन्न था। कला-क्षेत्र में उसकी ख्याति बढ़ रही थी, पत्नी मन के अनुकूल मिली थी और उसे अपनी प्रबुद्ध बहन का प्यार भी प्राप्त था। दफ्तर के बाद जो समय बचता, उसमें वह चित्र उरेहता, मूर्तियाँ बनाता और अपने अनुभवों को कला का रूप प्रदान करता था। इन्हीं दिनों उनकी पहली संतान नीरजा का जन्म हुआ। अर्चना एक बार फ़िर दिल्ली आयी और नवजात बच्ची को देखकर यों खिल उठी जैसे भाई की कला का वह एक सर्वोत्तम रूप हो।

दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हुआ। इससे दफ्तर में काम बहुत बढ़ गया। अक्सर ओवर टाइम लगाना पड़ता था। अनिल को अपने चित्र और मूर्तियाँ बनाने के लिए अब बिलकुल समय नहीं मिलता था। इससे उसके भीतर का कलाकार विक्षुब्ध हो उठा। नौकरी से वह पहले भी सन्तुष्ट नहीं था। स्वच्छन्द स्वभाव का व्यक्ति, सामाजिक आचार-व्यवहार की मिथ्या नैतिकता के अनेकों बन्धनों की तरह नौकरी भी उसके लिए एक बन्धन थी और मन में प्रायः विद्रोह की भावना उठती थी। अब कला के लिए समय न मिलने से यह भावना और तीव्र हो उठी और नौकरी एक जघन्य अपराध की तरह आत्मा को कोंचने लगी।

एक दिन चाय पीते-पीते उसने हेमला से कहा :-"सरकारी काम करने को जी नहीं चाहता। बेकार पोस्टर बनाने में जीवन व्यर्थ बीत रहा है।"

"ऐसी बात है तो नौकरी छोड़ क्यों नहीं देते ?" हेमला ने उत्तर दिया।

"मैं तो छोड़ना चाहता हूँ, पर नौकरी मुझे नहीं छोड़ती।" अनिल ने विद्रूप भाव से कहा और चाय का एक घूंट कंठ से उतार कर वह फिर बोला :- "सोचा था कि एक दिन अपने पांव पर खड़ा होकर नौकरी छोड़ दूंगा। पर जब देखता हूं कि वह दिन दूर-दूर सरकता चला जा रहा है।"

हैस-वैस के इन्हीं दिनों में मोंगा अनिल के सम्पर्क में आया और वह वाकई बड़े काम का आदमी सिद्ध हुआ। अनिल के पास जो चित्र और मूर्तियां बनी रखी थीं, वे हाथों हाथ बिक गयीं और उसके परिचितों का दायरा भी काफी बढ़ गया।

अनिल को प्रोत्साहन मिला और उसने अविलम्ब नौकरी से इस्तीफा दे दिया। उसकी कल्पना में बहुत दिनों से कई चित्र पल रहे थे, पर समयाभाव के कारण वह उन्हें उरेह नहीं पाता था। अब अवकाश मिला तो उसने पूरी तन्म्यता और लगन से चित्र बनाना शुरू किया। दो-ढाई साल खूब जमकर मेहनत की। इस बीच में जो आठ-दस चित्र बनाये, वे एकदम अनूठे और उसकी कल्पना के अनुरूप थे। वह यह सोच कर प्रसन्न था कि प्रचारात्मक पोस्टर बनाने के बजाय उसकी तूलिका कला का निर्माण कर रही है। अगर इन चित्रों को कलाकार की प्रसन्नता से आंका जाय तो वे निश्चित रूप से अमूल्य थे।

संयोग से इन्हीं दिनों राजधानी में एक प्रदर्शिनी संयोजित हुई। अनिल ने भी उसमें भाग लिया। उसके चित्रों ने दर्शकों का ध्यान विशेषरूप से आकर्षित किया और दो चित्र पूरी प्रदर्शिनी में सर्वोत्तम घोषित हुए। अखबारों ने उनकी सराहना करते हुए

लिखा कि अनिल भले ही नया चित्रकार है, पर मानना होगा कि वह स्वरूप और शैली का उस्ताद है।

प्रदर्शनी से जो ख्याति प्राप्त हुई, उससे मोंगा को अनिल के लिए ग्राहक जुटाने में और भी सुविधा हो गयी। वह जानता था कि अंग्रेज अफसरों की यह बड़ी कमजोरी है कि वे जहां अपने को एक अच्छा शासक सिद्ध करना चाहते हैं, वहां कला-प्रेमी कहलाने में खास शान समझते हैं। अतएव राजधानी के कुछ बड़े अंग्रेज अफसरों से उसने अनिल का परिचय कराया। जान-पहचान बढ़ी तो वे उसके स्टुडियो में भी आने-जाने लगे। फिर उन की देखा-देखी हिन्दुस्तानी राजे-रईसों ने भी अनिल के चित्रों और मूर्तियों से अपने ड्राईंगरूम सजाना शुरू कर दिये।

लेकिन विभाजन और स्वाधीनता के बाद अंग्रेज चले गये। दरिद्र और अपढ़ देश में कला और साहित्य के प्रेमी पहले ही कितने थे, अब बटवारे के कारण जो गड़बड़ फैली, उससे लोगों का ध्यान इधर से एक दम हट गया। जब चारों तरफ हा-हू मची हो और जान के लाले पड़े हों, तो चित्रों और मूर्तियों को कौन पूछता है? अनिल के पांच-छः साल बड़े संकट में बीते। पैसा हाथ में न होने के कारण न सिर्फ इच्छाओं का दमन करना पड़ता था, बल्कि समूचा गृहस्थ यों गदला गया था, जैसे स्थिर पानी पर काई छा जाती है। अनिल को अपनी तंगदस्ती और घर की हालत पर रोना आता था। परदों का रंग उड़ गया और वे इतने खस्ता हो गये कि हवा के एक झोंके से तार-तार हो जाने को आशंका रहती थी। हेमला के लिए बहुत दिनों से कोई नई साड़ी नहीं खरीदी गयी थी। वह मामूली सूती धोतियां पहन कर काम चला रही थी। यहां तक कि घर में जो दो बच्चे थे, उनके कपड़े और

जूते खरीदते समय दस बार सोचना पड़ता था कि उनपर कितना पैसा खर्च करने की गुंजायश निकल सकती है।

अनिल का मन विक्षुब्ध था। बाहर और भीतर शून्य ही शून्य था। लाख चाहने पर भी काम में जी नहीं लगता था। रंग वही थे, तूलिका वही थी और अनिल खुद वही था, पर उसमें आत्म-विश्वास नहीं था और कल्पना कैन्वस पर उतरते-उतरते विकृत और खण्डित हो जाती थी। चित्र को विरूप और नीरस देखकर वह अपने आप पर झुंझलाता और खीझ में भरकर तूलिका धरती पर पटक देता था।

आखिर जीविका चलाने के लिए उसने कार्मशियल आर्ट का सहारा लिया और विभिन्न दुकानदारों, फर्मों और कम्पनियों की फरमायश के मुताबिक तरह-तरह के डिज़ाईन तैयार किये, साबुन की टिकियों, अचार के डिब्बों और और सिरके की बोतलों के लेबिल बनाये। जब इन कामों से भी मन ऊब गया तो उसने 'आईवोरी पेलैस' नाम की एक फर्म में नौकरी कर ली नौकरी भी मोंगा ही की मार्फत मिली थी क्योंकि वह फर्म के प्रोपराइटर सेठ राधारमण से परिचित था। सेठ अधेड़ उम्र का स्थूलकाय व्यक्ति था। राजे-रईसों और धनी लोगों के आर्डर पर चित्र और मूर्तियां बनवाना उसका काम था और इस काम के लिए उसने आर्टिस्ट नौकर रखे हुए थे। इसके अतिरिक्त वह ऐतिहासिक महत्व की प्राचीन कला-वस्तुओं का क्रय-विक्रय भी करता था। देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों, मन्दिरों-मस्जिदों और ताजमहल आदि अन्य महत्वपूर्ण स्थानों की संगमरमर, हाथीदांत और पीतल की बनी अनेकों मूर्तियां शीशे की अलमारियों में सजी रहती थीं। दुकान क्या थी, अच्छा-खासा संग्रहालय था, जहां भारत का

सांस्कृतिक रूप प्रदर्शित होता था।

अनिल ने इस फार्म में दो-ढाई साल तक काम किया। रईस और धनी लोग, जो धन और सम्पत्ति के कारण ही अपने को संसार के श्रेष्ठ और महत्वपूर्ण व्यक्ति समझते थे और अपने बाद अपने नश्वर शरीर की यादगार छोड़ जाना आवश्यक समझते थे, सेठ राधारमण को अपनी तस्वीरें दे जाते और अनिल उनके आधार पर संगमरमर की मूर्तियां बनाता जो दीवान खानों अथवा निजी मंदिरों में स्थापित होती। जब कोई ऐसी फरमायश हाथ में न होती तो सेठ बुद्ध, महावीर तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेशादि की मूर्तियां तैयार करवाता और उन पर चौथी सदी, पांचवीं सदी में बनी एवं सांची, कन्नौज अथवा तक्षशिला में मिली का लेबिल लगा देता। अनिल यह सब कुछ देखता और यों महसूस करता कि ग्राहकों केसाथ सेठ के इस फ्राड में वह भी साझीदार है। पर दूसरे ही क्षण मन को समझाता—"मुझे क्या ? मैं तो एक तनखाहदार मुलाजिम हूं।"

और 'तनखाहदार मुलाजिम' बने रहने के लिए वह मोंगा के साथ बैठकर शराब पीता और पहले से कहीं अधिक सिगरेटें फूंकता था।

एक मर्तबा सेठ ने उसे एक महाराजा का, जो अब रियासत छिन जाने के कारण अपना राजनीतिक अधिकार खो बैठा था रंगीन पोर्ट्रेट तैयार करने को दिया। जिस चित्र से अनिल को पोर्ट्रेट तैयार करना था, उसमें महाराजा के सिर पर राजपूती ढंग की कलंगीदार पगड़ी थी, शाही पोशाक में हीरे-जवाहरात जड़े हुए थे और छाती पर तीन-चार तमगे थे जो ब्रिटिश सरकार ने उसे जाने किस वीरता के एवज में दिये थे। मुखमुद्रा से महाराजा

एकदम दम्भ का अवतार मालूम होता था। अनिल यह चित्र देखता तो उसे भारतीय जीवन में राजे-महाराजाओं की भूमिका स्मरण हो आती और उसका मन घृणा से भर उठता। पोर्ट्रेट बनाने बैठता तो पांच-सात मिनट में ही इतना थक जाता कि तूलिका अलग रखकर दीवार का सहारा लेना पड़ता, वह टांगें पसार कर सिगरेट जलाता और शून्य में झांकता हुआ लम्बे लम्बे कश खींचता रहता।

धीरे-धीरे विद्रोह की भावना ने इतना तीव्र रूप धारण किया कि अन्तरात्मा चिल्ला उठी– "अनिल! अगर तुम्हें कला को वेश्या ही बनाना था तो सरकारी नौकरी क्या बुरी थी?"

और वह सब कुछ छोड़-छाड़ कर तुरन्त भाग खड़ा हुआ, सेठ के बुलवाने पर भी फिर वहाँ नहीं गया और अपनी दस-बारह दिन की तलब भी नहीं ली।

घर-गृहस्थी बसाये उन्हें दस-ग्यारह साल बीत चुके थे। परिवार में अब पति-पत्नी के अलावा दो बच्चे भी थे – आठ-सवा आठ साल की नीरजा और उससे छोटा पांच-साढ़े पांच साल का एक लड़का, अरुण। दोनों बच्चे स्वस्थ और चंचल थे। उनकी नन्हीं मुन्नी शरारतों और कहकहों से घर जगमगा उठता। मगर अनिल को कुछ भी अच्छा न लगता। मन खिन्न और विरक्त रहता और उसे जीना व्यर्थ जान पड़ता। दुख की बात यह थी कि उसका अपने आपसे विश्वास उठता जा रहा था और यह विचार रह-रहकर सताता था कि उसकी कला और प्रतिभा का अन्त हो चुका है और वह अब कोई भी सफल चित्र या मूर्ति नहीं बना पायेगा, इस विचार को झुठलाने के लिए ही उसने यह 'मंत्र-मुग्ध' नाम का चित्र बनाना शुरू किया था। कल्पना बड़ी सुन्दर थी;

पर एक तो मानसिक विपन्नता और खिन्नता के कारण वह इसे कैन्वस पर नहीं उतार पाता था और दूसरे बीच-बीच में इसे छोड़ कर कामर्शियल काम भी करना पड़ता था। न करे तो गृहस्थी का सामान्य खर्च भी कैसे चले? चित्र के बार-बार बिगड़ने से वह बहुत परेशान था। कई बार जी में आती कि स्टुडियो छोड़कर किसी भी दिशा में भाग निकले। जिन्दगी भर भागता रहे, न किसी से मिले और न बात करे ······· ।

मोंगा एक बार फिर काम का आदमी सिद्ध हुआ और वह घेर-घ र कर महन्त को ले आया। और पैसा हाथ में आते ही अनिल ने बाहर भीतर की विपन्नता को निकाल फेंकने का निश्चय कर लिया। अनुभव से उसने जान लिया था कि दरिद्रता कला की दुश्मन है और इससे मनुष्य के व्यक्तित्व का ह्रास होता है।

छः

देखते ही देखते घर का वातावरण बदल गया। अनिल खुश था, पत्नी खुश थी और बच्चे भी खुश थे। दरवाजों और खिड़कियों पर नये पर्दे झिलमिला रहे थे। ये पर्दे एक दम आधुनिक डिज़ाइन के थे और पीले रंग की पृष्ठभूमि पर लालरंग के बड़े-बड़े फूल बहुत ही भले मालूम होते थे। चादरें, गद्दीयां और मेजपोश भी बदल दिये गये थे। मुरादाबादी गुलदान तिपाइयों पर रखे हुए थे और उनमें लगे हुए रंग-बिरंगे फूलों की सुगन्ध से कमरा महक उठा था।

हेमला दिन भर कमरा सजाने में व्यस्त रही। बसन्ते नें उसका हाथ बटाया। अब हर एक चीच करीने से रखी हुई थी। कमरे की सजधज देख हेमला का मन उल्लास से भर गया। उसका घर आज बहुत दिनों के बाद घर बना था। एक गृहिणी इस पर जितना गर्व करती थोड़ा थी। वरना पहले घर की जो हालत थी वह अनिल से अधिक उसे अखरती थी, पर वह अपनी खीझ को प्रकट नहीं होने देती थी। मन ही मन में कुढ़ कर रह जाती

थो। स्त्री का स्वभाव ही यह है कि वह दुख के लम्बे दिनों को अपने भीतर सिमट कर चुपचाप बिताती है, लेकिन सुख का उछाह उससे संभाले नहीं संभलता, उसके हर क्षण का प्रदर्शन करके वह गृहस्थ जीवन को आकर्षक बनाती है। हेमला भी अधीर हो उठी। वह चाहती थी कि पति को ये सब दिखाकर कहे:–"देखो, देखो! हमारे घर मे बसन्त आयी है।" पर स्टुडियों में झांक कर देखा तो अनिल अपने काम में व्यस्त था। उसने कल जो नया कैन्वस ईज़ल पर फिट किया था, उसमें अब रंग भरे जा रहे थे। वह इस काम में इतना तल्लीन था कि उसे अपनी कुछ भी सुध बुध नहो थी।

हेमला जहां थी, वहीं ठिठक गयी और पति को चित्र उरेहते देखती रही। कलाकार की तल्लीनता में बाधा कैसे डालती? वह चुपचाप उल्टे पांव लौट आयी।

घड़ी देखी तो चौंक उठी और बुदबुदायी: "बाप रे, इसमें तो बड़ा समय लगा!"

उसने बसन्ते से कहा कि वह बच्चों को स्कूल से लिवा लाये और वह खुद स्नान करने चली गयी।

नहा-धोकर और बन-संवर कर जब उसने आइना देखा तो उसका रूप पहले से अधिक निखर आया था। उसने टैबी की सफेद साड़ी पहन रखी थी, जिस पर हरा बार्डर खूब खिलता था। यह साड़ी पति-पत्नी ने कल ही बाजार से खरीदी थी। हाथों में हल्के नीले रंग की चूड़ियां थीं, जो हेमला को बचपन ही से बहुत पसन्द थीं। काले केशों में मोतिया की सफेद वेणी बंधी हुई थी। उसने आइने के सामने खड़े-खड़े साड़ी पर नजर डाली, वेणी को

दायें हाथ से दुरुस्त किया और भवों को जरा-सी जुम्बश देकर वह मुग्धमन से मुस्कुरायी।

उसे मुस्कुराना अच्छा लगा—बहुत अच्छा ! उसका नारीत्व खिल उठा और उसने यों महसूस किया जैसे अंग-अंग में पंख उग आये हों। वह इन पंखों के सहारे उड़ रही हो, तैर रही हो, हवा में नृत्य कर रही हो। वह आइने में झांक रही थी, मुस्कुरा रही थी और कुछ ऐसा अनुभव कर रही थी जैसे यह दिन उसके जीवन में किसी त्यौहार या पर्व का दिन हो, जो बड़ी प्रतीक्षा और मनौतियों के बाद आया हो।

सहसा उसके अपने प्रतिबिम्ब के साथ आइने में एक दूसरा प्रतिबिम्ब—अनिल का प्रतिबिम्ब भी उभर आया। हेमला ने पलट कर पति की ओर देखा और वह यों सटपटा गयी जैसे कोई बच्चा चोरी की मिठाई खाते पकड़ा गया हो।

"देखो, अब तो तुम्हारा घर आर्टिस्ट का घर है।" उसने सकुचाते लजाते हुए कहा।

"बेशक !" अनिल पर्दो, गुलदस्तों और दूसरी चीजों की ओर देखकर मुस्कुराया और एक कौतूहल भरी दृष्टि खुद हेमला पर डालकर ठुड्डी की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा, "और तुम भी तो इस समय आर्टिस्ट की पत्नी हो।"

"चलो, हटो ! इतने बड़े हो गये, पर शरारत की आदत नहीं गयी।" हेमला उसका हाथ झटक कर एक कदम पीछे हट गयी।

अनिल अपनी जगह पर खड़ा मुस्कुराता और पत्नी को इठलाते हुए देखता रहा। वह सचमुच आकर्षक जान पड़ती थी। उसके सरल और सुडौल व्यक्तित्व में वही शान्त और मूक आक-

पंण था, जो अनिल ने अपनी 'दो सखियां' नाम की कृति में चित्रित किया था। उस पर यह हरियाली और यह रंगरूप बहुत दिनों के बाद आया था। वह कुछ क्षण यों ही खड़ा देखता और मुस्कुराता रहा। फिर वह खुद भी एक कदम आगे बढ़ा और हेमला को कन्धों से पकड़ कर बोला: "यह सब पैसे का चमत्कार है जो दो बच्चों की मां को भी दुल्हन बना देता है।" और वह खिलखिला कर हंस पड़ा।

हेमला के सांवले गालों पर लालिमा झलक आयी। उसने पति की गिरफ्त से छूटने का प्रयत्न नहीं किया, बल्कि आंखों में आंखें डाल दीं और अनिल का नटखट रूप देखकर मुग्ध हो उठी। उसे बनारस के दिन स्मरण हो आये। बहन के साथ बहसों में यह रूप खूब निखरता था। अर्चना बिना बात खीझ उठती, पर अनिल शान्त और संयत बना रहता और उसके व्यंग्य प्रहारों पर भी खिलखिला कर हंस पड़ता। यह हंसी कितनी मासूम और निश्छल होती थी। अर्चना ने जब हेमला के चित्र की ओर संकेत करके कहा था—"इस पर अब 'हृदय की रानी' लिख दो।" वह तब भी खिलखिला कर हंस पड़ा था।

अनिल हंसता हुआ बहुत ही भला लगता था। उसका यही वह रूप था, जिसने हेमला का मन मोह लिया था और इसी कारण वह इतने दिनों तक उसका इंतजार करती रही थी। यही वह रूप था जो उस के चित्रों में ओतप्रोत रहता था। दर-असल कोई भी कलाकृति कलाकार के अभ्यन्तर का प्रतिरूप होती है। अगर उसका हृदय निश्छल और पवित्र न हो तो वह सत्यं, शिवं, और सुन्दरम् का निर्माण कर ही नहीं सकता।

हेमला पिछले काफी दिनों से पति का यह रूप देखने को

तरस गयी थी। अब देखा तो खिल उठी और अनिल की आंखों में आंखें डालकर यों देखती रही, जैसे उसे आत्मा में भर लेगी। अनिल ने भी पत्नी की आंखों में अपना यह रूप देखा, देखता रहा। फिर उसे निकट खींचा और आंखों, गालों और होंठो को प्यार से चूम लिया।

"यह गुलदस्ता अगर यों रखा जाय तो कैसा हो?" अनिल ने तिपाई पर रखे हुए एक गुलदान का कोण तनिक बदला कर पूछा।

"हां, यह अच्छा है।" हेमला ने समर्थन किया।

"अब कुछ लोगों को चाय पर बुलाया जाय।"

"तुम अपना यह चित्र पूरा कर लो। फिर हम तुम्हारे सब मित्रों को चाय पिलायेंगे।"

अनिल यह उत्तर सुनकर मुग्ध हो उठा। इसका मतलब था कि हेमला एक साधारण गृहिणी, उसके बच्चों की मां ही नहीं है, वह पति के सपनों और आकांक्षाओं को समझती है और उसकी कला में दिलचस्पी लेती है। यह विचार मन में आते ही उसने पत्नी की ओर पहले से अधिक प्यार से देखा। चित्र बनाते-बनाते चिन्तन की जो कोमलता और सूक्ष्मता उसकी आत्मा में भर गयी थी, वह अब चेहरे पर झलक आयी।

"आज तो खूब मन लगा।" हेमला ने पति की ओर देखते हुए कहा।

"हां, चित्र भी अब ठीक बनेगा।" अनिल ने सोचते हुए धीरे-धीरे कहीं दूर से उत्तर दिया। और जेब से सिगरेट-केस निकाल कर एक सिगरेट जलाया।

"अच्छा, बैठो। मैं चाय का पानी रख दूं।"

अनिल ने पत्नी के ये शब्द नहीं सुने। वह मुंह से धुंआ निकालते हुए एक पर्दे की ओर देख रहा था, लेकिन सोच चित्र के बारे में रहा था।

"ममी, सबसे पहला-पहला आदमी कौन था?"

नीरजा ने आते ही बस्ता एक ओर पटक दिया और मां की टांगों से लिपट कर यह सवाल पूछा।

"क्या मतलब?"

हेमला बच्ची का सवाल समझ नहीं पायी। वह भौचक्की-सी उसके मुख की ओर देखने लगी।

"सरोज कहती है, सबसे पहला-पहला आदमी कबीर था।" नीरजा ने बात को स्पष्ट किया।

हेमला अब भी नहीं समझी, उसने चुपचाप पति की ओर देखा। नीरजा तनिक सकुचा गयी। उसे मालूम नहीं था कि डैडी भी यहीं मौजूद हैं।

"नहीं बिटिया" अनिल ने बच्ची को प्यार करते हुए स्वर लमका कर कहा, 'कबीर से पहले तो बहुत-बहुत आदमी हुए हैं।"

"अच्छा।" नीरजा ने स्वीकार किया। पर उसके मन में जो प्रश्न उठा था, उसका समाधान अभी नहीं हुआ था। इसलिए तनिक रुक कर और आंखें फैला कर उसने पूछा: "फिर दुनिया का पहला-पहला आदमी कौन था?"

हेमला खिल खिला कर हंसी। बेटी की इस अनूठी सूझ पर उसे बेहद प्यार आया और वह उसे छाती से लगाकर बोली :— 'पहला-पहला आदमी कौन था, यह तो कोई नहीं जानता बिटिया। तुम्हारे डैडी भी नहीं जानते।"

इसी समय अरुण ने चहचहाते हुए भीतर प्रवेश किया। वह बसन्ते के साथ तनिक पीछे रह गया था। अनिल ने दायें हाथ से उसकी बांह पकड़ कर बायें हाथ पर उसे सिर से ऊपर उठाया और एक पांव के बल घूम कर कहा :—

"देखो, देखो! दुनिया का पहला-पहला आदमी, हमारा यह अरुण महाराज है।"

नीरजा ने कौतूहल भरी आंखों से अरुण को यों देखा जैसे दुनिया का सबसे पहला आदमी वाकई इतना ऊंचा होगा, जितना कि अरुण अब था।

अरुण का ध्यान कमरे की सजावट की ओर आकर्षित हुआ। उसने एक क्षण गुलदस्तों और पर्दों की ओर देखा और फिर दोनों हाथों से ताली बजाकर कहा—"ओ हो, ओ हो!"

नीरजा ने मां को कमरे से बाहर निकलते हुए दहलीज पर पकड़ा था और वह अपने प्रश्न में उलझी हुई थी। अब भीतर झांक कर देखा तो वह भी अरुण के स्वर में स्वर मिला कर चिल्लायी:—

"सब नया ही नया!"

मां, बाप और बसन्ता सब खिलखिला कर हंस पड़े।

सात

अनिल का नया चित्र मुकम्मिल हो गया था। वह उसे देख रहा था और मुस्कुरा रहा था। बार-बार कैन्वस बदलने में जो आत्म-पीड़ा और वेदना सहन करनी पड़ी थी, वह आज सुख में बदल गयी थी। उसका यह सुख असीम था, अवर्णनीय था और मन खुशी से नाच रहा था। उसने चित्र को नजदीक से, दूर से, इस कोने से और उस कोने से जाने कितनी बार देखा। वह अब हर तरह सन्तुष्ट था। चित्र में रंग का, भाव का और सन्तुलन का, कोई दोष दिखाई नहीं देता था। उसे अपने आप पर गर्व महसूस हुआ और कुछ ऐसी मुखमुद्रा धारण की जैसे दुनिया भर को बता देना चाहता हो: "आओ, देखो, मेरा यह चित्र देखो। आखिर मुझे समझा क्या है? मैं एक सफल कलाकार हूँ।"

चित्र क्या था, प्राकृतिक अध्ययन और कल्पना का एक सुन्दर सामंजस्य था। अनिल ने इसका नाम "मंत्र-मुग्ध" रखा था और अब वह खुद मंत्रमुग्ध सा उसे देख रहा था। चित्र में सिर्फ पहाड़ियां ही पहाड़ियां थीं पर उन्हें देखने से यह भाव व्यक्त होता था

कि एक बड़ी चट्टान नानी–दादी की तरह कोई कहानी सुना रही है और छोटी चट्टानें नई पीढ़ी के वे बच्चे हैं, जो चुप साधे इस कहानी को सुन रहे हैं। फिर चट्टानों की उम्र, उसका ठोस अस्तित्व और विस्तृत पृष्ठभूमि से अनन्तकाल से चली आ रही परम्परा का बोध होता था।

अनिल काफी देर तक चित्र को खुद देखता रहा और फिर दौड़ कर हेमला को बुला लाया।

"चोमृत्कार।" वह आते ही बोली और फिर ठुड्डी पर हाथ रख कर चित्र को देखने लगी।

हेमला चित्र देख रही थी और अनिल हेमला को देख रहा था। कुछ मिनट योंही गुजर गये।

"कहानी सुन रही हो?" अनिल ने पूछा।

"सब सुन रहे हैं तो मैं क्यों न सुनूं?" हेमला ने उतर दिया।

अनिल का मुख खिल उठा। उसे अपनी कला की इससे बेहतर दाद और क्या मिल सकती थी।

"अच्छा बना है न?" उसने प्रसन्नता को छिपाते हुए हेमला से पूछा।

"चोमत्कार! चोमत्कार!!" हेमला ने पहला शब्द फिर दोहराया और उसकी आंखें फैल गयीं।

अनिल ने पत्नी की आंखों में देखा और खिलखिला कर हंस पड़ा जैसे उसे विश्वास हो गया हो कि चित्र वाकई एक चमत्कार है।

शाम को मोंगा आया तो अनिल उसका हाथ [illegible]
"इधर आओ, इधर आओ" कहता हुआ उसे लि[illegible]

गया।

"वाह ! वाह !!"

मोंगा चित्र को देखते ही फड़क उठा, फड़क उठना उसका स्वभाव था और स्वभाव ही के अनुसार उसने चित्र की खूब तारीफ की। अनिल इतना खुश हुआ कि मोंगा के वास्तविक चरित्र को भूलकर इस भ्रम में पड़ गया कि उसकी संगति में रहते-रहते मोंगा को भी कला की समझ आ गयी है और ये शब्द उसके मन से निकल रहे हैं।

"अनिल, अगर अंग्रेज अब भी यहां होते तो मैं तुम्हें बाई गाड, इस तस्वीर के दस हजार लेकर दिखाता।"

मोंगा ने "दस हजार" पर विशेष बल दिया था और वह कुछ ऐसी मुद्रा में खड़ा था कि मुंह तनिक खुला हुआ था और ऊपर के दो सुनहरी दांत दिखाई दे रहे थे। अनिल के मनोभाव पर जन्नाटे की चपत पड़ी और उसकी सारी प्रसन्नता अवज्ञा में बदल गयी। देखते ही देखते मोंगा का मुख विकृत होने लगा और उसका वह रूप उभर आया, जिसमें उसके सामने नोटों का ढेर पड़ा था और वह उन्हें दोनों हाथों से निगल रहा था।

"अंग्रेज नहीं रहे तो किसी रईस को फंसाओ।" अनिल बोला।

"रईस भी उनकी देखा-देखी फंसते थे। फिर भी मैं कोशिश करूंगा।" मोंगा ने उसके स्वर को समझे बिना तटस्थ भाव से उत्तर दिया।

अनिल कई दिन तक अपने कलाकार मित्रों को घेर-घार कर लाता और उन्हें अपनी यह नयी कृति दिखा कर उसके गुण-दोष पूछता रहा। देखते-देखते उसकी भूख नहीं मिटती थी।

यह चित्र बड़े दिनों के बाद बना था और इस पर बड़ी मेहनत हुई थी। इसे बनाकर जितनी खुशी उसे हुई थी, उसी अनुपात से वह उसकी चर्चा भी सुनना चाहता था। एक बार चर्चा छिड़ जाने के बाद बात से बात निकलती और कला और व्यक्तित्व के ऐसे-ऐसे पहलू सामने आते कि अनिल उसके माध्यम से दूर तक अतीत में झांक कर देखता और उसके जहन में एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडी बन जाती, जिस पर वह गिरता-पड़ता और बाधाओं को फलाँगता हुआ चलता आया था।

"प्रकृति के अध्ययन से भी हमें अनूठे विचार और अछूते विषय मिलते हैं।" अवतार नाम के एक कलाकार ने "मंत्रमुग्ध" की सराहना करते हुए कहा।

"प्रकृति के अध्ययन के लिए ही तो मैं घर से भाग गया था।" अनिल ने गदगद कंठ से कहा, "हमारी यह आनन्द पर्वत की पहाड़ियां यहां से इधर बम्बई तक और उधर असम तक फैली हुई हैं।"

"आपने सब देखी हैं?"

"हां सब देखी हैं।" अनिल ने उत्तर दिया और तनिक रुक कर कहा, "अपने इस अध्ययन के आधार मैंने और भी कई चित्र बनाये हैं। आपने वे शायद देखे नहीं?"

"कहाँ देखे? आप जानते हैं कि मैं राजधानी में अभी आया हूं। आपको एतराज़ न हो तो अब दिखाइये।"

"मुझे क्या एतराज़ होगा। बड़ी खुशी से देखिये।"

और अनिल ने अपने सब चित्र अवतार को दिखाना शुरू किया।

अवतार लम्बे कद और गोरे रंग का एक पंजाबी नौजवान था।

कोई साल-डेढ़ साल हुआ, अमृतसर से दिल्ली आया था। आयु तीस-बत्तीस से अधिक नहीं थी। वह एक किसान का बेटा था और गरीबी के कारण लड़कपन में ही घर छोड़ दिया था। दुनिया में जीवित रहने के लिए बहुत से पापड़ बेले थे और कई साल तक फैक्टरियों में मजदूर भी रह चुका था। वह संयोग से प्रसिद्ध कलाकार अशफाक अहमद के सम्पर्क में आया और प्रेरणा पाकर चित्र उरेहने लगा। उसके चित्र जीवन के अनुभवों पर निर्धारित होते थे। उसका प्रिय विषय संघर्षरत मानव था और कला के प्रति उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी न होकर समष्टिवादी था। अनिल के चित्र उसे पसंद आये, वे चित्रकार की मौलिक शैली और मौलिक प्रतिभा के प्रमाण थे। रंगों का सम्मिश्रण बड़ा ही सुन्दर बन पड़ा था। चट्टानों, पेड़ों और पौधों के माध्यम से मानव हृदय की धड़कनें व्यक्त की गयी थीं। "अजनबी", "अकेला", और "सलीब" आदि कुछ चित्र ऐसे भी थे, जिनसे कलाकार को मानसिक कुंठा अथवा व्यक्ति और समाज में विद्यमान असंगति का आभास होता था। पर अवतार ने चित्रों की सैद्धान्तिक आलोचना उचित नहीं समझी। अनिल अवस्था में उससे बड़ा था और कला के क्षेत्र में उसने महत्वपूर्ण काम किया था। अतएव उसकी अवस्था और साधना का आदर करते हुए अवतार ने चित्रों के सिर्फ कला पक्ष को सराहा।

"वह चित्र क्या है?" अवतार की नज़र शिव के उस चित्र पर पड़ी जो महन्त लाया था और जो अब एक ओर रखा हुआ था।

"यह एक प्राचीन चित्र है, जो संयोग से मेरे पास आ गया है। यह देखिये।"

अनिल ने चित्र उठाकर अवतार को दिखाया, पर यह नहीं बताया कि वह कैसे और किसलिए उसके पास आया।

"खूब है। रंगों के सामंजस्य और अंग-विधान से अजन्ता की शैली का आभास होता है।"

"अजन्ता देखा?"

"हां देखा। आप अशफाक अहमद को जानते हैं?"

"जानता तो नहीं, उनके चित्र देखे हैं। बड़े प्रसिद्ध कलाकार हैं।"

"वे मेरे उस्ताद हैं।" अवतार ने मुस्कुराते हुए गर्व से कहा और बात जारी रखी, "मैंने उनके साथ छः साल बिताये हैं और अब मैं जो कुछ हूं, उन्हीं का बनाया हुआ हूँ। वह खुद तो मुगल शैली के चित्रकार हैं, पर अजन्ता से उन्हें इश्क है। वह कई बार वहां हो आये हैं। एक बार मैं भी उनके साथ था और हम कोई हफ्ता भर वहां रुके।"

"अजन्ता क्या है, कला का मन्दिर है! युगों का इतिहास है! देखते जी नहीं भरता।" अनिल उत्साह में भर कर बोला।

"पहली ही गुफा में "काली रानी" का जो चित्र है, वह उन्हें विशेष रूप से पसन्द है। मैं भी देखकर दंग रह गया। लम्बी सुन्दर ग्रीवा सामने की ओर खास झोक लिए हुए, भवों की कमानी, नरगिसी आंखें, सीधी नुकेली नाजुक नाक, कोमल मुख, उभरा हुआ माथा, किताबी चेहरा, गोल-गोल कन्धे, हाथ में कमल की टहनी, वक्ष का उतार-चढ़ाव, कमर की लचक और शरीर की गति में सौन्दर्य की तरंगें। मैंने नारी की ऐसी कमनीय छवि दूसरी नहीं देखी।"

कहते-कहते अवतार की स्याह पुतलियां यों चमक उठीं, जैसे चित्र अब भी उसके सामने हो और वह एकटक उसकी ओर देख रहा हो।

अनिल ने सिगरेट जलाया, एक लम्बा-सा कश खींचा और धुएं के भरगूले बनाता हुआ बोलाः-

"सौन्दर्य जिस वस्तु का नाम है, वह काले, गोरे अथवा सफेद रंग पर निर्भर नहीं करता। यह तो मनुष्य का व्यक्तित्व है जो किसी भी रंग में झलक उठता है। यह काली रानी गौर-वर्ण दासियों से घिरी हुई दीप-शिखा सी चमक रही है। चित्र की विशेष बात रानी की विचार-मुद्रा है। चित्र की एक-एक लकीर, एक-एक रेखा गहरी सोच का पता दे रही है। सीधे हाथ में जो कमल है उसका नीचे की ओर झुक जाना रंगों की रागिनी की लय है। चित्र को देखकर ...."

अनिल अकस्मात रुक गया। उसे अगस्त रोदां की उस मूर्ति का ध्यान आ गया, जिसका प्रतिरूप उसने चित्र में देखा था और जिसका नाम विचार-मग्ना था। वह मन ही मन इस मूर्ति की तुलना अजन्ता के इस चित्र से करने लगा। यह विचार उसके मस्तिष्क में पहली बार आया था और यह तुलना उसे अद्भुत जान पड़ती थी।

"मालूम होता है आप कहीं दूर चले गये थे।" जब वह अपने आप में आया तो अवतार ने मुस्कुराते हुए कहा।

"नहीं, दूर नहीं। अजन्ता से बहुत इधर आ गया था और एक मूर्ति की बात सोच रहा था।" अनिल ने उत्तर दिया और हाथ झटक कर बोला, "खैर छोड़ो। अजन्ता में स्त्री के जो विभिन्न रूप प्रस्तुत किये गये हैं, वे बेजोड़ हैं और ज़िन्दगी के

सजीव चित्र हैं।"

"इसमें क्या सन्देह है। आंखें, नाक, होंठ, चेहरा, ग्रीवा, कटि, बाल और फिर परिधान के झोक और लोच, चित्रकार की सूक्ष्म दृष्टि का पता देते हैं।"

"सोचने की बात यह है कि अजन्ता के चित्रकार की दृष्टि में यह परिवर्तन कैसे आया ?"

"परिवर्तन !"

"हां, यह एक मूल परिवर्तन है। दूर जाने की आवश्यकता नहीं। अगर हम अजन्ता ही की मूर्तियों और चित्रों को देखें तो यह परिवर्तन स्पष्ट हो जाता है। मूर्तियां जितनी भी हैं, उनका प्रेरणा-स्रोत धार्मिक निष्ठा और विश्वास है। कहो बुद्ध के जन्म से निर्वाण तक का जीवन वृत्तान्त है, कहीं शिव का ताण्डव नृत्य है और कहीं रावण कैलाश पर्वत को हिला रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि यह मूर्तिकला के ऐसे नमूने हैं जिनसे मालूम होता है कि मानव-शक्ति धरती-आकाश दोनों को विजय करने पर तुली हुई है। पर.........."

"जरा ठहरिये। मुझे सोच लेने दीजिए।" अवतार ने हाथ फैलाकर कहा, "धरती और आकाश दोनों को विजय करने की यह बात आपने बिलकुल नयी कही है।"

"यह तो सत्य है कि देवी-देवता मानव-कल्पना के यथार्थ रूप हैं और प्रकृति के विरुद्ध उसके अपने संघर्ष के प्रतीक हैं।"

अवतार ने मुस्कुरा कर अनिल की ओर देखा। वह गम्भीर और शान्त था और उसका कद बढ़ गया जान पड़ता था। अवतार को यों लगा जैसे वह अभय-मुद्रा में बुद्ध की देवाकार मूर्ति देख रहा हो।

"मैं दूसरी बात यह कह रहा था।" अनिल फिर बोला, "कि अजन्ता के चित्र मूर्तियों से भिन्न हैं। उनका मुख्याधार कल्पना या धार्मिक निष्ठा नहीं, वास्तविक जीवन है और प्रकृति का गहरा निरीक्षण है। चित्रकार जहां फूल-पौधे उरेहता है, वहां पेड़ पर चढ़ रही चींटी को भी नहीं भूलता।"

"मुआफ कीजियेगा। यहां मुझे अपने उस्ताद की एक बात याद आ गयी। वह कहा करते हैं कि रंगों की सहायता से किसी प्राकृतिक दृश्य को उरेहना एक व्यर्थ प्रयत्न है। जब हम एक फूल को देखें तो वह सिर्फ एक फूल ही दिखायी न दे बल्कि उसकी भीतरी पवित्रता, सूक्ष्मता और सुगन्ध का भी आभास हो।"

"ठीक है, ठीक है।" अनिल ने सिर हिलाया और सिगरेट को ऐश-ट्रे में बुझाते हुए कहा, "यह बहुत पते की बात है और यही भारतीय परम्परा है। अतीत का कलाकार जब कोई चित्र बनाता था तो अपने विषय की आत्मा को पहले निचोड़ लेता था और फिर उसे रंगों का रूप प्रदान करता था।"

"इस बात को हम यों भी कह सकते हैं।" अवतार कुछ क्षण सोचने के बाद बोला, "कि वह रंगों का दास नहीं था। रंग उसके विचार और कल्पना को सरकार बनाते थे।"

अवतार ने वाक्य पूरा करके अनिल की ओर देखा तो वह चुप था और उसकी आंखें कहीं दूर क्षितिज पर लगी हुई थीं। ठोस और गम्भीर मुद्रा से विदित था कि उसने अवतार की बात बिलकुल नहीं सुनी। वह किसी गहरी सोच में डूबा हुआ था।

"शायद इस सोच का नाम ही सुन्दरता है।" अवतार ने उसकी ओर देखते हुए सोचा।

"और परम्परा कभी नहीं मिटती। मिट नहीं सकती।" अनिल ने धीरे-धीरे दृढ़ स्वर में कहा और वह एक बार फिर चुप हो गया।

अवतार इन शब्दों को ध्वनित-प्रतिध्वनित होते सुनता रहा।

"पापा! पापा!"

नीरजा और अरुण दौड़ते हुए भीतर आये लेकिन अवतार को देखकर ठिठक गये।

उनकी आवाज सुनकर अनिल की तन्द्रा टूटी और उसने बच्चों को पुचकारा:

"आओ! आओ! डरो मत। यह भी तुम्हारे अंकल हैं।"

"अंकल नमस्ते।" नीरजा ने वहीं से कहा और फिर अरुण का हाथ पकड़ कर बोली, "चलो, चलो! हम पापा को दिखायेंगे।"

"क्या है?"

"अरुण ने एक नया चित्र बनाया है।"

"नया चित्र! ओ हो, तब तो हम भी देखेंगे।" अवतार बोला।

"लाओ बेटा! इधर लाओ।" अनिल ने बढ़ावा दिया।

दोनों बच्चे आगे बढ़ आये और नीरजा ने चित्र पापा को थमा दिया।

अनिल और अवतार एक साथ उसे देखने लगे।

"कहो, क्या ख्याल है?" अनिल ने चित्र को ज़रा फ़ासले पर थाम कर अवतार से पूछा।

"मैं समझता हूँ, कि यह सिर्फ एक चित्र ही नहीं, बल्कि

एक कहानी है ।" अवतार चित्र की ओर देखते हुए बोला ।

"कहानी-वहानी कुछ नहीं, बच्चे की सीधी-सादी कल्पना है ।"

"जरा इधर लाइये । मैं बताऊं । कम से कम इसे देखकर मेरे मस्तिष्क में तो एक कहानी उभर आयी है ।"

अवतार ने चित्र ले लिया और उसे अपने सामने रखकर बोला : "देखिये, बच्चे ने गंडोलने को फेंक दिया है और अब वह विद्रूप भाव से उसकी ओर यों देख रहा है, जैसे इसे यहीं पड़ा छोड़कर भाग जायगा ।"

"यह ठीक है बच्चे के चेहरे से ऐसा ही भाव व्यक्त होता है ।"

"अगर यह ठीक है तो फिर यह चित्र भी पूरी कहानी है । अवतार ने दृढ़ स्वर में कहा, "सुनो । यह बच्चा गंडोलने के सहारे चलना सीखता है । जब गंडोलने की जरूरत नहीं रहती तो मां इसे उठाकर खूंटी पर टांग देती है । लेकिन एक दिन अचानक बच्चे की नज़र उस पर जा पड़ती है और वह उसे उतार देने के लिए हठ करता है । जब मां उतार देती है तो वह योंही एक कदम उसके सहारे चलता है और फिर उसे पटक कर भाग जाता है ।"

"देखा, तुम्हारे अंकल ने कितनी सुन्दर कहानी बना दी ।" अनिल ने बच्चों से कहा और फिर वह अवतार की ओर पलट कर बोला, "कहानी का अर्थ यह हुआ कि मनुष्य जिस अवस्था को एक बार पार कर लेता है, फिर उसकी ओर लौट कर नहीं जाता ।"

"हां, अर्थ यही है। लेकिन मैंने यह कहानी बहुत दिन पहले किसी पत्रिका में पढ़ी थी और अब इस चित्र को देखकर अचानक याद हो आई।"

"और हमारे अरुण महाराज ने कहानी के विषय को निचोड़ा और उसे रंगों का रूप प्रदान कर दिया।"

वे दोनों एक साथ ठहाका मार कर हंस पड़े और बच्चे चकित से उनके मुख को ओर देखने लगे।

"यह तो आप बड़ी दूर की कौड़ी लाये।" अनिल ने जो भर कर हंस लेने के बाद कहा, "अब चित्र के गुण-दोष देखिये।"

"यह तो आप मान ही चुके हैं कि गंडोलने के प्रति विद्रूप और अवज्ञा का भाव बच्चे के चेहरे से व्यक्त होता है।"

"वह तो होता है।"

"यही इस चित्र की सफलता है।"

"रंगों का चयन भी बुरा नहीं।"

"बुरे का तो सवाल ही नहीं, काफी अच्छा है।" अवतार ने उत्तर दिया और फिर एक क्षण चित्र की ओर देखकर आगे कहा, "बच्चे की बाहें जरा ज्यादा लम्बी हो गयीं और कन्धे भी कुछ ऊपर को उठे हुए है।"

"ऐसे दोष बच्चों की कृतियों में अक्सर होते हैं।"

"और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि बच्चे की कल्पना आदि मानव की कल्पना है।"

"चित्र अच्छा है। हमारा अरुण महाराज भी बड़ा कलाकार बनेगा।" बाप ने सस्नेह बेटे की पीठ पर थपकी दी और

दोनों बच्चे मुस्कुराते हुए लौट गये।

"परम्परा कभी नहीं मिटती। मिट नहीं सकती।"

अवतार ने स्टुडियो से बाहर जा रहे बच्चों को ओर देखते हुए कहा और वे दोनों फिर हंसे।

आठ

महन्त मूर्ति बनवाने के लिए पांच हजार रुपया जो पेशगी दे गया था, उसमें से कुछ मोंगा ले गया, कुछ घर का सामान खरीदने पर खर्च हो गया और कुछ पीने-खाने में उठ गया। अनिल की जेब अब फिर खाली थी और वह सोच रहा था कि आगे काम कैसे चलेगा ?

इत्तफाक से उसी समय मोंगा आ गया। अनिल ने अपनी चिन्ता उसके सम्मुख प्रकट की। वह कुछ क्षण चुप बैठा सोचता रहा। फिर एकदम कुर्सी में उछल पड़ा और मुस्कुरा कर बोला:-

"चलो !"

"कहाँ ?"

"महन्त के पास।"

"महन्त के पास ?"

"हां, उससे और पैसा लायेंगे।"

अनिल विमूढ़-सा उसके मुख की ओर देखता रहा और वह बराबर मुस्कुराता रहा।

"पागल हुए हो। काम शुरू भी नहीं किया, महन्त और पैसा देगा?"

"तुम्हें इस बात से वहस। मोंगा के साथ चल रहे हो और जानते हो कि मोंगा काम का आदमी है।"

अनिल आध घंटे में तैयार हो गया और वे दोनों उसी समय मथुरा के लिए चल पड़े। आकाश पर बादल छाये हुए थे। मेह तो नहीं बरसा, लेकिन बीच बीच में हल्की-हल्की बूंदा-बांदी होती रही। वे तिपहरी के बाद मथुरा पहुँच गये। महन्त योगेश्वर गिरी ने उनका स्वागत किया और चन्द्रभान खरे से भी भेंट हुई। वह लम्बे कद, छरहरे शरीर और साँवले रंग का हंसमुख व्यक्ति था। उम्र छियालीस-सैंतालीस से कम नहीं थी, पर स्वास्थ्य अच्छा था और देखने में चालीस से अधिक का जान नहीं पड़ता था। वह खुली आस्तीन का कुर्ता, पायजामा और चप्पल पहने हुए था। यह उसका सामान्य लिबास था जो उसने तब अपनाया था, जब वह राजनीति में सक्रिय भाग लेता था और सोशलिस्ट कहलाता था। अब चाहे उसने राजनीति का क्षेत्र छोड़ दिया था, पर लिबास साथ रह गया था क्योंकि वह उसके शरीर का और व्यक्तित्व का अविच्छेद्य अंग बन चुका था।

"जन्माष्टमी देखने आये?" महन्त ने मेहमानों से पूछा।

"कल जन्माष्टमी है, यह तो हमें यहीं आकर पता चला।" मोंगा ने उत्तर दिया। "हम तो आपके ही दर्शन को आये थे।"

"अब दोहरा फल मिलेगा।" खरे मुस्कुराया, "महन्त जी के दर्शन भी हो गये और जन्माष्टमी का लाभ भी उठाओगे।"

"आदमी एक बार घर से चल पड़े तो बहुत कुछ लाभ

उठाता है ।" अनिल ने बात में बात मिलायी और महन्त जी उसकी ओर देखकर मुस्कुराये ।

"मथुरा तो मन्दिरों की नगरी है । आज यहां मन्दिर देखो और कल वृन्दावन घूम आओ ।" महन्त ने कहा ।

"घूमना फिर होगा ।" मोंगा बोला, "पहले हम जिस काम से आये हैं, आप हमें उससे निश्चिन्त कर दीजिए ।"

"कहिये ।"

"बात यह है ।" मोंगा ने तनिक आगे को झुक कर बात शुरू की, "अनिल जी की पत्नी कोई महीना भर बीमार रहीं । पैसा सब खत्म हो गया । अब और चाहिए ।"

महन्त ने मोंगा की ओर से नज़र घुमाकर अनिल की ओर देखा और एक क्षण देखते रहने के बाद पूछा :—"कितना ?"

"सात हजार दे दीजिए ।" मोंगा ही ने उत्तर दिया ।

महन्त ने आव देखा न ताव, जिस आसन पर वह बैठे थे, उसके नीचे से रिजर्व बैंक की चैक-बुक निकाली और सात हजार का चैक काट दिया ।

अनिल ने कृतज्ञता में भरकर महन्त की ओर देखा और चैक जेब में रख लिया ।

"अब तो आप निश्चिन्त होकर घूम सकेंगे ।" महन्त मोंगा से मुखातिब हुआ ।

"न सिर्फ घूम सकेंगे बल्कि रात को निश्चिन्त सो भी सकेंगे ।" मोंगा ने उत्तर दिया और वह खिलखिला कर हंस पड़ा ।

"शुरूआत यहीं से कीजिए ।" महन्त बोला और खरे से उन्हें अपना मन्दिर दिखाने को कहा ।

महन्त का मन्दिर मथुरा और वृन्दावन के बीच में स्थित

था। अगले दिन चूंकि जन्माष्टमी थी और हिन्दुस्तान भर से दर्शक तथा भक्त जन आ रहे थे, इसलिए उसे झंडियों और बत्तियों से खूब सजाया गया था। मन्दिर कई बीघे भूमि पर फैला हुआ था। दरअसल उसके दो खण्ड थे और दोनों के बीच काफी फासला था। एक खण्ड में विष्णु और कृष्ण की मूर्तियां स्थापित थीं और दीवारों पर उन्हीं के चित्र अंकित थे। कहीं चतुरमुखी विष्णु शेष नाग पर आसीन है, कहीं गरुड़ पर सवार हैं और कहीं लक्ष्मी उनके पांव दबा रही हैं। लेकिन अधिकांश चित्र विष्णु के मानव-रूप कृष्ण के थे। मथुरा और वृन्दावन कृष्ण के क्रीड़ा-स्थल थे और भक्तजन उन्हीं की लीला देखने इधर उधर से खिंचे चले आते थे। इन चित्रों में कृष्ण का लगभग समूचा जीवन अंकित था। कहीं वासुदेव उन्हें टोकरी में उठाये आ रहे हैं और जमुना उनके चरण छूने को आतुर ऊपर उठ रही हैं। कहीं बाल कृष्ण मुंह खोले यशोदा माता को अपना विराट रूप दिखा रहे हैं, कहीं माखन-चोर बने हुए हैं और कहीं बांसुरी की तान से गोपियों का मन रिझा रहे हैं। इसके विपरीत दूसरा रूप यह था कि वह सुदर्शन चक्र हाथ में लिये शत्रुओं का संहार कर रहे हैं अथवा कुरुक्षेत्र में अर्जुन के सारथी बने "आत्मा की अनश्वरता" का उपदेश दे रहे हैं। कृष्ण के ये विभिन्न रूप वाकई बड़े मनमोहक थे।

दूसरे खण्ड में जितनी भी मूर्तियां और चित्र थे, महादेव शंकर के थे। यहां मन्दिर में जो शिवलिंग स्थापित था, वह पांच फुट ऊंचा था और उसके पार्श्व में शिव की एक भव्य प्रतिमा थी। इन दोनों को देख दर्शक चकित रह जाता था। शिव का चरित्र ही बड़ा विचित्र है। दीवारों पर जो चित्र अंकित थे, उनसे

इसी वैचित्र्य का दिग्दर्शन होता था। भोलेनाथ कहीं चन्द्रमा को जटाजूट में धारण किये हुए हैं, कही नरमुंड माला गले में डाले ताण्डव नृत्य कर रहे हैं, कहीं त्रिशूल हाथ में है, कहीं उमा उनकी सहचरी है, कहीं गरल पीकर नीलकण्ठ बन गये हैं और कहीं अगस्त ऋषि को दक्षिण जाने का आदेश दे रहे हैं। और कुछ चित्र उन 'नाय-व्यार' सन्तों के भी थे, जिन्होंने शिक्षित और विद्वान न होते हुए भी अपने सन्तुलित गीतों द्वारा जनसाधारण में शिव-भक्ति का प्रचार किया था।

यों एक ही स्थान पर वैष्णव और शैव मतों के प्रतिनिधि दो अलग-अलग मन्दिर बने हुए थे।

मन्दिर देखकर लौटे तो मोंगा ने जैसा कि उसका स्वभाव था, दोनों खन्डों की इतनी प्रशंसा की कि महन्त योगेश्वर गिरि गदगद हो उठे।

"देखा जाय तो शिव, विष्णु, शक्ति, ब्रह्मा और सूर्य के विविध रूप हैं।" महन्त ने सोल्लास बात शुरू की, "इसलिए हमने इधर विष्णु और उधर शिव दोनों के मन्दिर एक साथ बना दिए हैं। दोनों देवताओं के विभिन्न रूप एक साथ देख लेने से भक्तों के मन में शैव और वैष्णव का भेदभाव नहीं रहता, रूप चाहे जितने भी हों, हमारा धर्म और हमारी संस्कृति एक है।"

"यह तो ठीक है, पर मुझे......"अनिल कहते-कहते रुक गया।

"कहिये, कहिये। संकोच मत कीजिये।" महन्त बोला।

"इसमें सन्देह नहीं कि हमारा धर्म और संस्कृति एक है। अनिल ने आश्वस्त होकर कहा, "मगर मुझे यों लगा कि आपकी श्रद्धा और निष्ठा शिव में कुछ अधिक है।"

महन्त ने अनिल की ओर देखा, हौले-हौले सिर हिलाया और फिर कुछ क्षण चुप रहकर गम्भीर स्वर में कहा :—

"हमारी श्रद्धा या निष्ठा की बात नहीं, दरअसल आपने जो कुछ देखा वह महादेव भोलेनाथ का अपना प्रताप है। औघड़ शंकर जहां शम्भू है, वहां प्रलयंकर भी है। महेश की यदि एक दृष्टि अमृत का वर्षण करती है तो दूसरी मृत्यु का। उनके क्रोध में प्रलय है, और स्नेह में सृष्टि।"

"यूनान, चीन, मिस्र" खरे ने गर्दन तनिक बायीं ओर झुका-कर और एक ही साथ तीनों की ओर देखते हुए कहा, "किसी भी देश की देवमाला देख लीजिए, मानव कल्पना ने शिव से अधिक विचित्र चरित्र का निर्माण नहीं किया...."

"छी, छी ! शिव का निर्माण मानव ने किया है ? नास्तिक कहीं का।"

महन्त ने मीठी भर्त्सना की और खरे ने दांतों से जीभ काट कर और दोनों हाथों से कान पकड़ कर भूल सुधारी।

"अच्छा, अब तुम खाने-सोने की व्यवस्था करो।" महन्त ने कहा और ताकीद की, "ध्यान रहे कि इन्हें किसी प्रकार की असुविधा न होने पाये।"

अब सूरज छिप चुका था और अंधेरा उतरना शुरू हो गया था। खरे उन्हें मन्दिर के करीब एक मकान में ले गया। उसमें दो कमरे थे और सामने काफी खुली जगह थी, जिसमें फूल-पौधे लगे हुए थे और यही उसके रहने का स्थान था। वह उन्हें जिस कमरे में ले गया, उसकी हालत बहुत अस्त-व्यस्त थी। फर्श पर, मेज पर और दीवार के साथ बिछे तख्तपोस पर किताबें अखबार और पत्रिकाएं बिखरी हुई थीं। इसके अलावा आलमारियां और

रैकों में किताब ही किताबें दिखायी देती थीं।

"यह रहने का मकान है या कबाड़खाना!" मोंगा ने अन्दर आते ही कहा।

"बैठिये!" खरे ने जल्दी-जल्दी किताबें और पुस्तकें समेट कर बैठने की जगह बनायी और सिगरेट पेश करते हुए कहा, "किताबें मेरा व्यसन है। मुझे किताबें मिलती रहें और मैं उन्हें पढ़ता रहूँ, इसके अलावा कहीं क्या हो रहा है, इसकी मुझे कुछ भी चिन्ता नहीं। फिर मैं संसार की एक स्वतंत्र इकाई हूँ।"

और उसने दोनों हाथ कुछ इस ढंग से हिलाये जैसे वह सच-मुच एक संतुष्ट व्यक्ति, स्वतंत्र इकाई हो।

"यह स्वतंत्रता तुम्हें राजनीति तो दे नहीं पायी, धर्म ने दी।" मोंगा ने बात आगे बढ़ायी।

खरे ने एक लम्बा कश खींचा कर जो धुआं भीतर रोक रखा था, मुंह ऊपर उठाकर उसे धीरे-धीरे छत की ओर छोड़ा और वह विद्रूप भाव से मुस्कुराया।

"धर्म ने कहां महन्त योगेश्वर गिरि ने दी।" उसने तनिक आगे झुक कर और मोंगा की आंखों में आंखें डालकर यों कहा, जैसे किसी मिथ्यारोप का प्रतिवाद कर रहा हो," महन्त ने कहा —"बेटा, किताबें खरीदो, पढ़ो और ऐश करो। तुम्हें किसी बात की चिन्ता नहीं है।" और मुझे किसी बात की चिन्ता नहीं है। महन्त योगेश्वर गिरि जिन्दाबाद!"

और वह ठहाका मारकर आप ही हंस पड़ा।

"आदमी तुम दिलचस्प हो। मोंगा ने ठीक ही कहा था।" "अनिल ने उसका दायां हाथ अपने दोनों हाथों में दबाते हुए कहा। बहुत देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। फिर कहीं जाने

को मन नहीं हुआ और वे पी-खाकर सो रहे ।

सुबह सोकर उठे तो धूप निकल आयी थी । नहा-धोकर तैयार हुए और नाश्ता किया ।

"मैं समझता हूँ कि वृदावन घूम आयें ।" खरे ने सुझाव रखा ।

"कोई हर्ज नहीं । आदमी हर तरह निश्चिन्त हो तो घूमने में आनन्द आता है ।" मोंगा ने समर्थन किया ।

"कलाकार की राय क्या है ?" खरे ने अनिल के कन्धे पर हाथ रखकर पूछा ।

"जो पंचों की राय सो अपनी राय ।"

ये तीन तलंगे वृन्दावन पहुँचे । खूब भीड़-भाड़ और चहल-पहल थी । जनमाष्टमी के दिन बाँके कन्हैया के दर्शन करने यात्री देश के हर कोने से खिंचे चले आये थे । उनमें बूढ़े भी थे, जवान भी, स्त्रियां भी थीं और पुरुष भी । घर-गृहस्थी की सारी चिन्तायें वे पीछे छोड़ आये थे और टोलियां बनाकर नाचते गाते चल रहे थे । कहीं खड़ताल पर "राधे श्याम, राधे श्याम" की धुन नाच रही थी और कहीं "नंद के लाला, कृष्ण गोपाला" अलापते हुए लोग झूम-झूम जाते थे ।

श्रद्धा और भक्ति का यह दृश्य कितना अद्भुत और कितना मनमोहक था । ये तीन तलंगे भी देखने के लिए ठिठक जाते थे और सरल हृदय यात्रियों को मस्ती में झूमते देखकर सानन्द मुस्कराते थे ।

"इस स्थूलता में भी सूक्ष्मता है ।"

"तुम सचमुच नास्तिक हो ।"

"कैसे ?"

"वरना स्थूलता और सूक्ष्मता का प्रश्न ही कहां उठता है ? स्थूलता में यह शक्ति कहां कि जनमानस को इतना आनन्द-विभोर कर सके।"

खरे ने अनिल की ओर देखा, देखता रहा। उसके होठों पर जो व्यंग्ययुक्त मुस्कुराहट थी, वह धीरे-धीरे लुप्त हो गयी।

"भगवान के इस सांवले-सलोने रूप में स्नेह-प्रेम, चंचलता-वीरता, संगीत-नृत्य और दर्शन का जो सामंजस्य हुआ है, क्या वह नितान्त सूक्ष्म नहीं है ? और वही रूप तो है, जो इन्हें आनन्द-विभोर कर रहा है।"

सहसा खड़तालें जोर से बज उठीं, "राधेश्याम, राधेश्याम" का स्वर ऊंचा उठा और यात्री उत्साह के साथ आगे बढ़े।

"भगवान का यह रूप सोलह कला सम्पूर्ण है और आप कला के उपासक हैं।" खरे ने कहा और वह अनिल की ओर देखकर सरल भाव से मुस्कुराया।

खड़तालें बजाती और भजन गाती यात्रियों की इस टोली ने एक मन्दिर में प्रवेश किया और ये तीनों भी उसके पीछे-पीछे भीतर चले गये।

बांके-बिहारी का यह मन्दिर बहुत बड़ा था और वृन्दावन के मन्दिरों में सबसे अधिक प्रसिद्ध था। शायद इसीलिए भीड़ इतनी अधिक थी कि तिल धरने को जगह नहीं थी और हो-हल्ला मचा हुआ था। यात्री न सिर्फ मूर्ति के दर्शन करते थे बल्कि अनुष्ठान पा जाने के भी इच्छुक थे। लेकिन अनुष्ठान बांटने का विधान अजीब था। हट्टे-कट्टे साधु और पुजारी ऊंचे चबूतरे पर खड़े-खड़े फल और मिठाई थालों में भर-भर कर नीचे दर्शकों पर फेंकते थे, जो छीना-झपटी में थोड़ी-बहुत हाथ लगती थी और

अधिकांश पैरों तले रोंदी जाती थी ।

अनिल, मोंगा और खरे भी भीड़ में खड़े थे । अनुष्ठान पाने की लालसा उनके मन में नहीं थी, वे सिर्फ देख रहे थे, एक लम्बी बाहों वाले बलिष्ठ पुजारी ने थाल की सामग्री उनकी ओर मुंह करके जोर से जो फेंकी तो एक मोटा-सा अमरूद मोंगा के गाल पर चट से आ लगा ।

"क्या बेहूदगी है !" वह गाल सहलाते हुए चिल्लाया ।

"चलो, चलो ! हमारी भी पिटाई हो जायगी ।" अनिल ने खरे को धकेलते हुए कहा ।

"क्या सूक्ष्मता से इतनी जल्दी घबरा गये ।"

"वह और बात थी ।"

वे तीनों भीड़ को चीरते हुए बाहर आये । मोंगा अब भी गाल सहला रहा था । गाल से खून तो नहीं निकला था, पर मांस उभर आया था और एक गोल निशान साफ दिखाई देता था ।

"बांके बिहारी का प्रसाद मिला था । तुमने झपटा नहीं । उसी का यह दण्ड है ।" खरे ने मोंगा के कन्धे पर हाथ रखकर व्यंग्य-प्रहार किया ।

"इस प्रसाद की ऐसी-तैसी ।" मोंगा चिल्लाया ।

"वैसे फेंकने वाले ने आदमी पहचान लिया था ।" अनिल ने मुस्कुराते हुए कहा और खरे खिलखिला कर हंस पड़ा ।

जब वे अपने उतारे हुए जूते पहन रहे थे तो इधर-उधर से भिखारी लड़के-लड़कियों ने उन्हें आ घेरा ।

"बाबू, पैसा ! बाबू, पैसा !"

कितने ही दीन-क्षीण मुख गिड़गिड़ा रहे थे और हाथ फैले

हुए थे।

"बाबू सा'ब, हम गाईड हैं। मन्दिर और घाट सब दिखायेगा।"

भिखारियों की भीड़ से निकले तो पंडों ने आ घेरा। वे मना कर रहे थे कि हमें गाईड की जरूरत नहीं, पर पंडे थे कि पीछा नहीं छोड़ रहे थे और बराबर रिरिया रहे थे—"हम सब दिखायेंगे।"

वे बिना गाईड की सहायता के एक दूसरे मन्दिर में चले गये। वहां भीड़ तो कम नहीं थी, पर शोर बांके बिहारी के मंदिर से भी भयानक था।

इस मन्दिर में मिठाई और फलों के बजाय पैसे फेंके जा रहे थे। चीथड़ों में लिपटे अधेड़, जवान और किशोर प्राणी उन पर झपटते थे और हू–हा चिल्लाते थे। वे फर्श पर पर बिखरे हुए पानी में लेट कर पैसे टटोलते और उनकी आवाजें मन्दिर की छत और दीवारों से टकरा कर गूंजतीं।

"यह किसका मन्दिर है ?" अनिल ने एक पंडे से पूछा जो मना करने के बावजूद उनके साथ-साथ चला आया था।

"सा'ब, यह सेठ विट्ठलदास ने बनावाया है।" पंडे ने उत्साह में भर कर उत्तर दिया।

"तब ठीक है।" मोंगा ने अर्थपूर्ण ढंग से सिर हिलाया।

"ये किराये के लोग हैं। पैसे उठाकर फिर पुजारी को दे आते हैं।"

खरे ने व्याख्या की।

"तुम पहले भी यहां आये हो ?"

"नहीं आया तो क्या एक मन्दिर में तो रहता हूं।

अनिल जो चुप खड़ा था विद्रूप भाव से मुस्कुराया।

फिर पैसों की बौछार हुई और फिर शोर उठा। वे कानों में अंगुलियां देकर तुरन्त लौटे और जूते पहन कर बाहर निकल आये।

"मेरा ख्याल है, अब चलें। सब जगह यही कुछ होगा।" मोंगा ने मुंह बनाकर कहा।

"जल्दी क्या है? जब आये हैं तो देख तो लें। "अनिल बोला।

"तुम डरो नहीं।" खरे ने मोंगा का गाल सहलाते हुए कहा, "मैं आगे रहूँगा और तुम मेरी आड़ में रहना।"

और लोग जिस दिशा में जा रहे थे, वे भी उधर ही को चल पड़े।

"सा'ब, इधर आइये और मानसिंह का मन्दिर देखिये। ऐतिहासिक स्थान है।" पंडे ने आगे बढ़कर कहा। अनिल के एक सवाल पूछ लेने के बाद उसने अपने आपको निर्विवाद रूप से गाईड समझ लिया था।

तीनों ने एक दूसरे की ओर देखा और वे पंडे के पीछे–पीछे चल पड़े।

मन्दिर बहुत बड़ा था, लेकिन सूना और वीरान था। उसमें न मूर्तियां थीं और न पुजारी। अकबर के चहेते राजा मानसिंह ने जाने किस धुन में उसे बनवाया था और अब एक ऐतिहासिक स्मारक मात्र बनकर रह गया था।

मन्दिर क्या था, पुरानी हवेली की तरह एक विशाल इमारत थी। आंगन-दर–आंगन कई छतें और कई भाग थे। पंडे ने सब दिखाये। छतों पर ढेरों चमगादड़ लटके हुए थे और फर्श भी गंदे

थे, इसलिए उनमें से निकलते समय दम घुटता था।

"अब यहां चलो जहां खुलकर सांस लेने को अच्छी हवा मिले।" मन्दिर से बाहर आकर अनिल ने पंडे से कहा।

"तो आइये इधर घाट पर चलें।"

"घाट पर !"

"जी हां ! बहुत आनन्द रहेगा, वहां कदम्ब का वह पेड़ भी है, जिस पर कृष्ण महाराज गोपियों के चीर लेकर चढ़े थे……"

"और वे बेचारी मुंह ताकती रह गयी थीं।" खरे ने पंडे के मुंह का वाक्य छीन लिया।

"पहले तुम सिगरेट निकालो, चलने की बात फिर सोचेंगे।" मोंगा ने खरे से कहा।

वे तीनों दीवार के साये में खड़े सिगरेट पीने लगे और पंडा जरा अलग हटकर बैठ गया।

"कुंज गली किधर है ?" एक स्त्री की महीन आवाज सुनायी पड़ी।

"उधर बायीं ओर घूम जाना और आगे किसी से पूछ लेना।" पंडे ने उसे उत्तर दिया।

वह छरहरे शरीर की सामान्य महिला थी। रंग गोरा न काला और पीला भी नहीं था। जवानी ढल चुकी थी, पर उसे अधेड़ कहना उचित नहीं था। वह शायद अकेली ही मथुरा, वृन्दावन घूमने आयी थी और अकेली ही उस कुंज गली की तलाश में चल पड़ी, जिसमें नटखट कन्हैया गोपियों के साथ आंखमिचौनी खेलते थे और रासलीला रचाते थे।

"हम भी क्यों न कुंज गली देखने चलें" मोंगा ने उसी दिशा

में ताकते हुए कहा ।

"क्या तुम्हारे मन में भी कोई साध बाकी है।" खरे ने व्यंग्य किया और अनिल सिगरेट की राख चुटकी से झाड़ते हुए मुस्कुराया ।

"वहां अब कुछ नहीं बाबू सा'ब । गांव की एक संकीर्ण गली है" । पंडा बोला । शायद वह उधर जाना नहीं चाहता था ।

"अच्छा, आओ । हम घाट पर चलें ।" खरे ने सिगरेट धरती पर फेंकते हुए कहा ।

घाट पर कदम्ब के बहुत से पेड़ थे, पर एक जो सबसे बड़ा और छतनार था, उस पर रंग-बिरंगे बहुत से चीर लटके हुए थे और नीचे पंडे छोटे-बड़े साईज के विभिन्न चीरों की दुकानें सजाये बैठे थे। वे उन्हें देखते ही अपना-अपना माल लेकर लपके । 'पांच रुपये', 'दो रुपये', 'सवा रुपया', 'यह आठ आने का तो चढ़ा ही दीजिए, बड़ा पुण्य होता है बाबू सा'ब !" अनिल, खरे और मोंगा ने इधर तनिक भी ध्यान नही दिया । वे दो तीन मिनट वहां रुके और पंडों को हताश करके आगे चल पड़े ।

"अब तो मेला है, इन लोगों का बस नही चलता । वरना कोई अकेला-दुकेला आ फंसे तो ये पंडे मजबूर करके बीस-बीस, पच्चीस-पच्चीस रुपये के चीर चढ़वा लेते हैं ।" एक सुगठित शरीर के अधेड़ यात्री ने अपने पंजाबी लहजे में बताया ।

घाट दूर तक फैला हुआ था । वहां भी काफी मन्दिर थे । जहां भी जाओ मूर्ति के दर्शन गौण बात थी, दान-दक्षिणा मुख्य प्रश्न । पंडा भी इन्हें विशेष रूप से ऐसे ही स्थानों पर ले जा रहा था, जैसे उसका कमीशन बंधा हुआ हो । पर इन लोगों ने मूर्ति-दर्शन में कोई विशेष रुचि नही ली, मन्दिरों को सरसरी नज़र से

देखते हुए निकल आये।

"और तो कुछ नहीं ?"

"नहीं सा'ब, जो कुछ दिखाने को था, हमने सब दिखा दिया।"

अनिल ने इस गाईड पंडे को जो लाल अंगोछा कन्धे पर ड़ाले हुए था, एक रुपया देकर बिदा किया।

नो

चैक भुनाते ही अनिल ने पहला काम यह किया कि सफेद संगमरमर की एक बहुत बड़ी सिल खरीद ली। इस पर तेरह-चौदह सौ रुपए खर्च हुए। पत्थर बहुत बढ़िया था, बर्फ की तरह सफेद और चमकीला। वह उसमें से मूर्ति तराशने का काम तुरन्त शुरू करना चाहता था। महन्त योगेश्वर गिरी के व्यवहार और शिष्टाचार से वह बहुत प्रभावित हुआ था। अनिल यह सोच कर लज्जित था कि काम अभी शुरू ही नही हुआ और दोबारा पैसा मांगने चल पड़ा। महन्त ने इस बारे मे एक शब्द तक नहीं कहा, "मूर्ति कब तक बन जायगी ?" यह तक नहीं पूछा। निस्संकोच सात हजार का चैक काट दिया और पांच हजार पहले दे गया था। कितना उदार व्यक्ति है।

"अब इस काम में ढील करना उचित नही है।" अनिल कृतज्ञता में भर कर सोचता।

वह हर रोज काम शुरू करने की नीयत से शिव का वह

चित्र उठाता और मूर्ति को कल्पना में साकार बनाने लगता। सोचते-सोचते उसे मथुरा, ऐलोरा और अजन्ता के मन्दिरों की याद आती और शिव के विभिन्न रूप उसके मस्तिष्क में घूमने लगते।

वह दूर अतीत में झांक कर देखता। शुंग काल में ही ऐसे मन्दिरों का निर्माण शुरू हो गया था जिनमें देवताओं की मूर्तियां स्थापित की जाती थी। मन्दिरों का इतिहास मूर्तिकला के विकास का इतिहास था।

और फिर मध्य काल में भागवत धर्म की सीधी और सरल भक्ति आडम्बर युक्त होने लगी। मन्दिरों में स्थापित मूर्तियों को जीवित-जागृत देवता मानकर स्नान, भोग, साज-शृंगार, वस्त्र आदि द्वारा संतुष्ट किया जाने लगा। सिर्फ यहीं तक नही उपास्यदेव को नाच और गाने से भी रिझाने की प्रथा चल पड़ी।

मथुरा में अनिल ने धर्म का यह आडम्बरयुक्त रूप ही देखा था। अब जन्माष्टमी के उत्सव की याद आती तो थालों में भर कर अनुष्ठान फेंकने और चिथड़े लटकाये पैसे लूट रही भीड़ के भीवत्स दृश्य नजरों में घूम जाते।

"क्या वेहूदगी है !" मोंगा गाल सहलाता हुआ चिल्ला उठता।

अनिल की मधुर और सूक्ष्म कल्पना खंड-खंड हो जाती और धूल में सन जाती।

"वसंते !" अनिल आवाज देता।

"जी, साब !" वसंता दौड़ा आता।

"चाय लाओ : "

वंसता चाय वनाकर लाता। अनिल बैठा होले-होले सिप

करता और शून्य में झांकता रहता फिर वह सिगरेट जलाता और लम्बे-लम्बे कश लगाकर धुंआ यों बाहर छोड़ता कि वह अजीबो-गरीब मरगूलो की शक्ल अख्तयार कर लेता। ये फैलते और सुकडते हुए मरगूले दर असल उसके अंतद्वंद्व को साकार बनाते थे। वह उनकी ओर देखता, कश लगाता और फिर धुंआ बाहर छोडता। आखिर वह अपने आपको ऐसी मानसिक स्थिति में पाता जिसमें सोचने-करने को कुछ न होता। एक विचित्र शिथिलता आलस्यमय उदासीनता तन-मन को लील लेती।

कई दिन तक यही स्थिति बनी रहती और वह अक्सर स्टुडियो से बाहर ही घूमता रहता।

एक-दो बार उसने दृढ़ निश्चय किया कि मूर्ति बनानी है और अवश्य बनानी है। छैनी और हथौड़ी ली और वह काम पर जम जाने के लिए तैयार हो गया। पर संगमरमर की सिल पर दृष्टि पड़ते ही उसके मस्तिष्क में देवि-देवताओं की वे अनेकों मूर्तियां उभर आतीं, जो एक दूकान के अंदर शो-केसों में सजाकर रखी हुई थीं, जिन्हें उस जैसे तनखादार कलाकारों ने बनाया था, लेकिन सेठ राधारमण उन्हें प्राचीनता के लेबिल लगाकर बेचता था।

झन से उसके भीतर कुछ टूट-सा वह जाता और कल्पना खंड-खंड हो जाती। छैनी और हथौड़ी वहीं फेंक-फाक वह सोफे पर आ बैठता। शरीर को ढीला छोड़ कर सिर उसकी पुश्त पर टेक देता। ज़हन में एक के बाद एक शक्ल बनती और बदलती रहती। सेठ राधारमण महन्त योगेश्वर गिरि में और महन्त योगेश्वर गिरी सेठ राधारमण में गडमड होने लगता।

"नहीं, नहीं, यह दरुस्त नहीं है।" वह सिर झटक कर उठ

बैठता और उन दोनों को अलग-अलग करने का प्रयत्न करता।

"सेठ राधारमण एक-एक पाई दांतोंसे पकड़ता है। पहले काम लेता है और फिर तनखाह देता है।" मन कुछ स्वस्थ हो कर सोचता कि और एक दूसरी डगर अपनाता, "लेकिन महन्त एक उदार व्यक्ति है, भला व्यक्ति है उसने काम के बारे में एक शब्द भी नहीं कहा और बारह हजार रुपया दे दिया।"

सेठ राधारमण और महन्त योगेश्वर गिरि में एक स्पष्ट अंतर दीख पडता। एक कमरे के इस सिरे पर और दूसरा उस पर खड़ा होता। अनिल बारी-बारी से एक दृष्टि दोनों पर डाल कर धीरे से मुस्कराता और शरीर ढीला छोड़कर सिर फिर सोफे की पुश्त पर टेक देता। सोचने की दिशा फिर बदलती। इधर से सेठ सरकता और उधर से महन्त सरकता, फासला शनैः शनैः कम होता जाता और आखिर दोनों शक्लें फिर एक दूसरे में गडमड होने लगती।

"बंसते !"

"जी सा'व।"

"चाय लाओ।"

फिर चाय, सिगरेट और धुआं और फिर मन की वही स्थिति।

दो महीने इसी हैस-बैस में बीत गये। अनिल सोचता कि हाथ में काम है और वह करना भी चाहता है फिर क्यों नहीं कर पाता? समझ में नहीं आ रहा था कि वह इतना विवश क्यों है?

पति-पत्नी नाश्ता लेने बैठे। अनिल सोच में डूबा हुआ था और हेमला की दृष्टि उसके मुख पर गड़ी हुई थी।

"क्या देख रही हो ?" अनिल ने पूछा

"मैं यह देख रही हूं कि तुम आज कल इतना परेशान क्यों रहते हो ?"

"परेशान।" अनिल ने खाली प्याला एक तरफ से उठा कर दूसरी तरफ रखा और फिर कहनियों के बल मेज पर झुककर कहा, "मैं मूर्ति बनाना चाहता हूं, पर बनती नहीं।"

"क्यों नहीं बनती ?" हेमला ने मुस्कराते हुए धीरे से कहा।

"यही तो समझ में नही आता।"

अनिल ने मुट्ठो भींचकर हाथ जोर से मेज पर मारा। प्याले और प्लेटें खनक उठीं।

वह कुछ क्षण शान्त बैठा दरवाजे की ओर ताकता रहा। उसकी भवें तनी हुई थीं।

"महन्त भला आदमी है और सौदा भी बुरा नहीं है।" वह बुदबुदाया और पत्नी की ओर देखे बिना ही बात जारी रखी," बारह हजार पेशगी दे चुका है और आठ हजार बाद में देगा।"

"आठ हजार बड़ी रकम है।" हेमला बोली।

"काफी बड़ी।" अनिल ने समर्थन किया और अर्थपूर्ण दृष्टि से पत्नी की ओर देखा।

"जब काम करोगे तभी मिलेगी।"

हेमला के स्वर में शिकायत या उलाहना नहीं था। उसने सहज व्यावहारिकता की एक बात कही थी।

"काम ! काम ! काम !" अनिल ने दोहराया और खाली प्लेट में टोस्ट का जो मामूली-सा टुकड़ा बचा पड़ा था उसे मुंह में डालकर चबाने लगा।

"हेम !" पत्नी के चेहरे पर आंखें गड़ा कर वह फिर बोला,

"तुम्हारे खयाल में महन्त के पास कितना रुपया होगा ?"

"मैं क्या जानूं।"

"यह जानने की नहीं सोचने की बात है।"

"हमें सोचना भी तो नहीं आता।"

"यह क्या बात ? सोचना भी कुछ मुश्किल है। अखिर जिसके पास लाख होंगे हजार वही तो देगा।" अनिल ने चमच चीनी से भरकर और फिर उसे वापस बर्तन में डालते हुए कहा, "मैं समझता हूं कि महन्त के पास दो-चार लाख रुपया जरूर होगा।"

"लाख ही क्यों करोड़ भी तो हो सकता है।" हेमला ने प्रतिवाद किया।

"हां, करोड़ भी हो सकते है। विल्कुल हो सकते है। यह तुमने ठीक ही कहा।"

अनिल के हाथ से चम्मच छूट गया और उसने पीछे हटकर कुर्सी की पुश्त का सहारा लिया।

"अब उठोगे नहीं ?" हेमला ने कहा।

अनिल ने कोई उत्तर नहीं दिया। शायद उसने प्रश्न सुना ही नहीं क्योंकि उसके मुख का भाव नहीं बदला।

"क्या हमारे पास लाख-दो लाख भी नहीं हो सकते ?" वह बोला।

हेमला ने एक क्षण पति की ओर देखा और फिर भीगे स्वर में कहा :

"आज तुम यह कैसी बातें सोच रहे हो ? हमारे पास सब कुछ है।"

"यही तो मैं भी सोच रहा हूं कि हमारे पास जब सब-कुछ है

तो लाख रुपये क्यों नहीं ? हैं अनिल ने कहा और वह खिलखिला कर हंस पड़ा ।

"कला का पुजारी धन का पुजारी नहीं हो सकता।" हेमला ने कहा और पति की ओर यों देखा जैसे वह अपनी नहीं खुद उसी की बात दोहरा रही हो।

"पर कलाकार को धन की जरूरत तो रहती है वरना वह सेठों और महन्तों के आदेशो का पालन क्यों करे ?

"समाज में रहने के लिए कुछ न कुछ करना ही पड़ता है।"

"आदमी अगर रहने के बजाये जीने और जिलाने के लिए करना चाहे ?"

अनिल ने प्रश्न-सूचक दृष्टि से पत्नी की ओर देखा तो वह उससे आंखें न मिला सकी। उसने सिर झुका कर प्याले और प्लेट समेटना शुरू किया।

"बसंते !" उसने नौकर को आवाज दी।

बसंता तुरन्त दौड़ा आया और मेज पर बिखरा हुआ सामान समेटने लगा।

"बसंते !" अनिल ने उसका कंधा छू कर होले से कहा। बसन्ते ने हाथ रोककर स्वामी की ओर देखा।

"अगर तुम्हारे पास लाख रुपया हो तो तुम उसका क्या करो ?" अनिल ने पूछा।

बसन्ता हतप्रभ-सा खड़ा था, उसकी आंखें सूनी-सूनी थीं।

"बताओ लाख रुपये से तुम क्या करोगे ?" अनिल ने उसे झंझोड़ा।

"सा'ब मैं मन्दिर बनवाऊंगा।" बसन्ता एकदम सतर्क और सचेत हो गया।

"और उसमें मूर्ति भी लगवाओगे ?"

"जी साब ।"

"किसकी ?"

"भगवान की ।"

"मेरी नहीं ?"

बसन्ता उत्तर में खिन्न भाव से मुस्कुराया और बर्तन समेट कर चल दिया ।

"वह नहीं समझता कि मैं एक कलाकार हूँ । कलाकार, "जो भगवान का निर्माण करता है ।"

वह एक झटके के साथ उठा और अपने स्टूडियो की ओर चल पड़ा ।

हेमला कलाकार के इन शब्दों को ध्वनित-प्रतिध्वनित होते सुनती रही ।

दस

अनिल ने मूर्ति बनाने का विचार ही मन से निकाल दिया। वह अब एक चित्र बना रहा था। केन्वस पर अब तक जो कुछ बन पाया था वह एक टंठ-मुंड पेड़ था जो एक सूने चटियल मैदान में खड़ा था। उसकी चोटी पर एक तरफ सिर्फ एक टहनी थी जिस पर न शाखें थीं और न पत्ते। इधर दो दिन तक काम रुका रहा क्योंकि अनिल सोच रहा था कि टहनी पर जो पक्षी बैठा हो, वह उल्लू या गिद्ध हो ताकि वीरानगी अधिक गहरी और भयानक हो जाय। पर यह उसके चित्र का मूल विषय नहीं था। उसने तो सोचा था कि कवि और कलाकार की कल्पना अपने में बड़ी सुन्दर, समृद्ध और स्वतंत्रताप्रिय है, पर उसे उपयुक्त सामाजिक आधार नहीं मिल पा रहा। दो दिन तक सोचा, बहुत सोचा। आखिर समस्या सुलझ गई। इस समय वह टहनी पर रंग-विरंगे पंखों और नन्ही तीखी चोंच वाला जो पंछी बना रहा था, वह सुन्दर और समृद्ध कला का प्रतीक था।

"वास्तविक अनुभूति यही है।", उसने सोचा और पंछी की

चोंच में रंग भरते-भरते वह अचानक रुक गया।

अपने इन शब्दों में उसे एक दूसरा ही स्वर सुनाई पड़ा। वह मौन और स्थिर खड़ा इस स्वर का सुनता रहा। यह अर्चना का स्वर था। वह बड़े दर्प से कह रही थी।

"मेरा चित्र गौरण है, वास्तविक अनुभूति यही है।"

अनिल ने ब्रुश पैलिट पर रख दिया और वह सोफे में आ बैठा।

अतीत की एक महत्वपूर्ण घटना मस्तिष्क में उभर आयी थी। वह उसी के बारे में सोच रहा था। चित्र बनाते-बनाते अतीत की घटनाएं और बातें अक्सर यों ही स्मरण हो आती थी, वह ब्रुश छोड़कर योंही सोफे मे आ बैठता और उन्ही के बारे में सोचता रहता। यह सोचना जरूरी भी था क्योंकि इसी का नाम अमृतमंथन है और इसी से कलाकार की कला और व्यक्तित्व का विकास होता है।

अनिल अब प्रौढ़ अनिल नहीं बल्कि बीस-बाईस साल का भावुक युवक था। यह वे दिन थे जब उसे प्रकृति का हर एक अणु-प्रमाणु सचेत, कोमल और सूक्ष्म जान पड़ता था, जब हेमला से पहले-पहल परिचय हुआ था और उसने "दो सखी" चित्र बनाया था।

"यह चित्र भी खूब रहा।"

"खूब कैसे ?"

"इसी के कारण तो यह मोड़ घूमा। विचार और चिंतन में इतना बड़ा परिवर्तन आया कि धर्म अर्थात आदर्शवाद का मार्ग बहुत पीछे छूट गया।"

अनिल चौंका। अपनी जीवन-यात्रा का यह विश्लेषण उसने

पहली बार किया था। धर्म अर्थात आदर्शवाद का मार्ग पीछे छूट जाने की सूझ एकदम मौलिक थी।

अब यह बात भी स्पष्ट हो गई कि महन्त जैसे उदार व्यक्ति के काम से तबियत इतनी क्यों घबराती थी।

उसका मन अब पहले से कहीं अधिक स्वस्थ था और उसने जो चित्र शुरू कर रखा था, वह दो-तीन दिन में मुकम्मिल हो गया।

फिर उसने एक मूर्ति बनाई जिसमें एक हिरनी गर्दन घुमाये अपने बच्चे की ओर देख रही थी। बच्चा मां के पीछे खड़ा था। उसने भी गर्दन उपर उठा रखी थी और दोनों के मुंह एक-दूसरे से मिलना चाहते थे। यह मूर्ति "मृग-ममता" का एक सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करती थी।

मन में नए-नए भाव उठ रहे थे। अनिल और भी नए चित्र और मूर्तियां बनाना चाहता था। पर महन्त से जो सात हजार रुपया मिला था, उसमें से ड़ेढ़ हजार की सिल खरीद ली; लगभग इतना ही मोंगा ले गया और बाकी जो बचा, वह इस बीच में पीने-खाने में उठ गया। इसलिए निश्चित होकर सृजन-कार्य में संलग्न रहना सम्भव नहीं था। मौलिक कृतियों के निर्माण में प्रसन्नता अवश्य होती थी, पर उनसे पैसा कब मिलेगा, कभी मिलेगा भी, यह कुछ निश्चित नहीं था।

"मोंगा !" निस्संदेह तुम बड़े काम के आदमी हो। हमारे इन चित्रों और मूर्तियों का कोई ग्राहक तो लाओ।" उसने मोंगा से कहा।

"मैं कोशिश करूंगा।" मोंगा ने उत्तर दिया।

"कोशिश से काम नहीं चलेगा। हमें पैसा चाहिए। अपनी

इस खोपड़ी से काम लो और फिर कोई तरकीब लड़ाओ।"

"हमेशा न तरकीब लड़ती है और न तकदीर।" मोंगा ने कहा और अपने वाक्य की नवीनता पर मुग्ध हो कर वह आप ही में हंस पड़ा।

"फिर क्या किया जाय ?" अनिल बोला।

"अब तो शायद महन्त से भी और पैसा नहीं मिलेगा।"

"ना, ना ! तुम कहो मैं तब भी उनके पास पैसा मांगने नहीं जाऊंगा।"

"उसके काम का क्या बना ?"

"वह सिल पड़ा है। बहुत चाहने पर भी इस से आगे नहीं बढ़ पाया।" अनिल ने निचला होंठ आगे को बढ़ा कर सिल की ओर संकेत किया।

इधर-उधर की कुछ और बातें हुईं। मोंगा ने यकायक घड़ी देखी और वह उठकर चला गया। उसके जाते ही अनिल के मन में सहसा एक विचार आया और उसने लपक कर शिव का वह चित्र उठा लिया, जिसके आधार पर उसे मूर्ति तैयार करनी थी।

उसने एक क्षण चित्र की ओर ध्यान से देखा और फिर वह विद्रूप भाव से मुस्करा कर कर बुदबुदाया : "लो बेटा ! तरकीब तुम्हें नहीं सूझती, हमें सूझ गई है।"

"बसन्ते।" उसने नौकर को आवाज दी।

अलादीन के चिराग वाले दानव की तरह बसन्ता दूसरे ही क्षण सामने खड़ा था।

"यह तस्वीर किस की है ?"

"शिव पार्वती की।"

"पहचानते हो ना ?"

"जी सा'ब।"

"शिव–पार्वती वरदान भी देते हैं, जानते हो ना ?"

वसन्ते से कोई उत्तर नहीं बन पड़ा, वह खिन्न भाव से चित्र और कलाकार की ओर देखता रह गया।

"अच्छा, इसे सम्भालो और मेरे साथ चलो।"

अनिल नौकर को साथ लिये "आईवोरी पैलेस" पहुंचा। फर्म के मालिक सेठ राधारमण ने उसे सादर अपने पास गद्दी पर बिठाया और स्नेह-सिक्त स्वर में कहा :

"आर्टिस्ट साहब के तो अब दर्शन ही नहीं होते।"

"देखिये सेवा में उपस्थित हूँ।" अनिल ने विनीत भाव से उत्तर दिया।

"आपका कुछ पैसा भी हमारे पास पड़ा है।"

"पैसा !" अनिल चौंका।

"हां, आपकी तनखाह का पैसा है। आप आये नहीं।" सेठ ने दांत निपोर कर कहा और फिर अपने एक मुनीम से मुखातिब हुआ, "फूलचन्द जी जरा आर्टिस्ट साहिब का हिसाब देखना।"

पतले–दुबले फूलचन्द ने बड़ी मुस्तैदी से एक मोटी-सी वही निकाली और उसमें देखकर बताया :

"एक सौ बाईस रुपये छः आने।"

"रसीद लेकर आप को दे दीजिये।"

झट रसीद बन गई और तिजोरी से पैसा भी निकल आया।

अनिल ने चुपचाप रसीद पर दस्तखत किये और पैसे लेकर जेब में रख लिये।

"और कहिए, आज कैसे दर्शन दिये ?" सेठ ने सगर्व पूछा।

"मुझे और पैसा चाहिए ?" अनिल ने उत्तर दिया ।

"पैसा ?" सेठ की प्रश्न-सूचक दृष्टि उसके चेहरे पर गड़ी थी ।

"देखिये मैं यह चित्र लाया हूँ ।" अनिल ने बसन्ते से शिव का चित्र लेकर सेठ राधारमण की ओर बढ़ा दिया ।

सेठ ने ऐनक चढ़ाकर उसे ध्यान से देखा और एक-दो मिनट देखता रहा ।

"कहिए, क्या सेवा करूं ?" सेठ ने ऐनक खोल में रखते हुए पूछा ।

"आप जो उचित समझें ।"

"फिर भी अनुमान क्या है ?"

"आप देख ही रहे है एक सुन्दर और अलभ्य वस्तु है । मैं समझता हूं, पंद्रह-बीस हजार भी कम है ।" अनिल ने धीरे-धीरे अत्यन्त गम्भीरता से कहा ।

"पंद्रह-बीस हजार ! पंद्रह-बीस हजार !" सेठ आंखों ही आंखों में मुस्कराया और फिर एक कागज पर कुछ आंकड़े लिखकर उसे अनिल की ओर बढ़ा दिया ।

"ढाई हजार ?" अनिल ने पढ़ा और प्रश्न-सूचक दृष्टि से सेठ की ओर देखा ।

"बस इससे अधिक नहीं । और यह भी आपकी खातिर ।" सेठ ने कहा और कागज अनिल के हाथ से लेकर मुनीम की ओर बढ़ाया, "फूलचंद जी, यह एक और रसीद बना दीजिये ।"

अनिल तस्वीर बेचकर घर लौटा तो मन बहुत ही विक्षुब्ध और खिन्न था । शाम को उसने जान-बूझ कर इतनी पी कि फिर उसके बाद रात भर अचेत लेटा रहा ।

सुबह उठकर इस बारे में कुछ नहीं सोचा और उसने एक नया चित्र बनाना शुरू कर दिया।

महन्त कभी-कभी खत लिखकर पूछ लेता था कि काम कहां तक आगे बढ़ा है। अनिल उत्तर लिख देता था——"समझिये कि अब खत्म हुआ चाहता है।"

लेकिन चित्र बिक जाने के बाद महन्त के फिर दो-तीन खत आये और अनिल ने एक का भी उत्तर नहीं दिया।

खतों का उत्तर न पाकर महन्त के मन में आशंका उत्पन्न हुई और वह एक दिन सहसा खुद आ पहुंचा।

"क्षमा कीजियेगा। मैं इधर बहुत परेशान था, इसलिए उत्तर नही दे सका।" अनिल ने कहा।

"परेशान तो आप अब भी मालूम होते हैं।" महन्त उसकी ओर देखते हुए बोला।

"बहुत अधिक।"

मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूं ?"

"सहायता।" अनिल ने दोहराया और पहलू बदल कर आगे कहा, "बनाते-बनाते मूर्ति एकदम बिगड़ गई। देखिये यह नई सिल खरीद कर लाया हूं और अब नये सिरे से बनाऊंगा।"

महन्त ने सिल पहले ही देख ली थी। पड़े-पड़े उस पर काफी धूल जम गई थी।

"आप भले आदमी है और मैं भी भला आदमी हूं। इसलिए भले आदमियों की तरह बात कीजिये।" महन्त ने धीमे कोमल स्वर में कहा।

"मैं आपसे क्षमा चाहता हूं।" अनिल बोला।

"वह चित्र कहां है ?"

"बेच दिया।"

कई क्षण मौन के बीते !

"चलो, मैं उसे वापस खरीदूंगा।" महन्त बोला।

अनिल चुपचाप उठा और महन्त के साथ कार में बैठकर "आईवोरी पेलेस" पहुँचा।

सेठ राधारमण से काफी देर भाव-ताव करना पड़ा। उसने महन्त से साफ कह दिया—"आपको चित्र मन्दिर के लिए चाहिए या धर्मशाला, के लिए . हमें इस बात से कोई मतलब नहीं। हम व्यापारी आदमी हैं और लाभ की इच्छा से पैसा लगाते हैं।"

वह पांच हजार मांग रहा था, लेकिन सौदा चार हजार पर पट गया और महन्त ने तुरन्त चैक काट दिया।

अनिल का खयाल था कि महन्त चित्र लेकर लौट जायेगा। अगर उसे मूर्ति बनवानी होती तो कोई और आर्टिस्ट ढूंढेगा, कम से कम उसका पिंड छूटा। मगर उसकी यह धारणा गलत निकली।

"क्या मैं आपकी पत्नी से बात कर सकता हूँ ?" महन्त ने स्टूडियो में लौट कर अनिल से कहा।

"बड़ी खुशी से।" अनिल ने उत्तर दिया और वह पत्नी को बुलाने भीतर चला गया।

हेमला भी हैरान थी कि आखिर उसे क्यों बुलाया गया है और वह उस व्यक्ति से मिलने के लिए उत्सुक भी थी, जिसने बारह हजार रुपया पेशगी दिया था और अब बड़े धैर्य और संतोष से चार हजार रुपया चुका कर चित्र फिर से खरीद लाया था।

वह आई और महन्त को नमस्कार करके इत्मीनान से कुर्सी पर बैठ गई।

सुबह उठकर इस बारे में कुछ नहीं सोचा और उसने एक नया चित्र बनाना शुरू कर दिया।

महन्त कभी-कभी खत लिखकर पूछ लेता था कि काम कहां तक आगे बढ़ा है। अनिल उत्तर लिख देता था——"समझिये कि अब खत्म हुआ चाहता है।"

लेकिन चित्र बिक जाने के बाद महन्त के फिर दो-तीन खत आये और अनिल ने एक का भी उत्तर नहीं दिया।

खतों का उत्तर न पाकर महन्त के मन में आशंका उत्पन्न हुई और वह एक दिन सहसा खुद आ पहुँचा।

"क्षमा कीजियेगा। मैं इधर बहुत परेशान था, इसलिए उत्तर नहो दे सका।" अनिल ने कहा।

"परेशान तो आप अब भी मालूम होते हैं।" महन्त उसकी ओर देखते हुए बोला।

"बहुत अधिक।"

मैं आपकी कुछ सहायता कर सकता हूं ?"

"सहायता।" अनिल ने दोहराया और पहलू बदल कर आगे कहा, "बनाते-बनाते मूर्ति एकदम बिगड़ गई। देखिये यह नई सिल खरीद कर लाया हूं और अब नये सिरे से बनाऊंगा।"

महन्त ने सिल पहले ही देख ली थी। पड़े-पड़े उस पर काफी धूल जम गई थी।

"आप भले आदमी है और मैं भी भला आदमी हूं। इसलिए भले आदमियों की तरह बात कीजिये।" महन्त ने धीमे कोमल स्वर में कहा।

"मैं आपसे क्षमा चाहता हूं।" अनिल बोला।

"वह चित्र कहां है ?"

"बेच दिया।"

कई क्षण मौन के बीते !

"चलो, मैं उसे वापस खरीदूंगा।" महन्त बोला।

अनिल चुपचाप उठा और महन्त के साथ कार में बैठकर "आईवोरी पेलेस" पहुँचा।

सेठ राधारमण से काफी देर भाव-ताव करना पड़ा। उसने महन्त से साफ कह दिया—"आपको चित्र मन्दिर के लिए चाहिए या धर्मशाला, के लिए. हमें इस बात से कोई मतलब नहीं। हम व्यापारी आदमी हैं और लाभ की इच्छा से पैसा लगाते हैं।"

वह पांच हजार मांग रहा था, लेकिन सौदा चार हजार पर पट गया और महन्त ने तुरन्त चैक काट दिया।

अनिल का खयाल था कि महन्त चित्र लेकर लौट जायेगा। अगर उसे मूर्ति बनवानी होती तो कोई और आर्टिस्ट ढूंडेगा, कम से कम उसका पिंड छूटा। मगर उसकी यह धारणा गलत निकली।

"क्या मैं आपकी पत्नी से बात कर सकता हूँ ?" महन्त ने स्टूडियो में लौट कर अनिल से कहा।

"बड़ी खुशी से।" अनिल ने उत्तर दिया और वह पत्नी को बुलाने भीतर चला गया।

हेमला भी हैरान थी कि आखिर उसे क्यों बुलाया गया है और वह उस व्यक्ति से मिलने के लिए उत्सुक भी थी, जिसने बारह हज़ार रुपया पेशगी दिया था और अब बड़े धैर्य और संतोष से चार हजार रुपया चुका कर चित्र फिर से खरीद लाया था।

वह आई और महन्त को नमस्कार करके इत्मीनान से कुर्सी पर बैठ गई।

"यह लीजिए, एक हजार रुपये का चैंक है, इतने ही रुपये हर महीने आपको पहुँचते रहेंगे।" महन्त ने हेमला से कहा और चैक-बुक में से एक चैक काट कर उसकी ओर बढ़ा दिया।

अनिल और हेमला ने एक-दूसरे की ओर देखा।

"इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।" महन्त बोला और अनिल की ओर संकेत कर फिर कहा, "जब तक मूर्ति न बन जाय कलाकार महोदय हमारे पास बन्दी रहेंगे। आपको कोई आपत्ति तो नहीं है?"

"मुझे क्या आपत्ति हो सकती है?" हेमला ने सहज भाव से उत्तर दिया।

"इधर से आपकी छुट्टी हुई।" महन्त अब के अनिल से मुखातिब हुआ, "उठिये और मेरे साथ चलिये। आपके रहने-सहने की व्यवस्था वहां कर दी जायगी।"

अनिल से कुछ कहते-पूछते न बन पड़ा। वह विमूढ़-सा अपनी जगह स्थिर बैठा रहा।

"चलने की इच्छा नहीं, तो न सही।" महन्त ने फिर कहा।

"नहीं, मैं अवश्य चलूंगा।"

"तो फिर उठिये।"

अनिल ने अपना संक्षिप्त-सा सामान समेटा और वह महन्त के साथ कार में जा बैठा।

सारी घटना इतनी जल्दी और इतने नाटकीय ढंग से घटी थी कि हेमला भी इस बारे में कुछ सोचने-समझने में असमर्थ थी। वह चैंक हाथ में लिए स्टूडियो से बाहर आई और दरवाजे पर खड़ा पति को महन्त के साथ जाते हुए देखती रही।

ग्यारह

अनिल को मथुरा आये दो महीने से अधिक समय बीत चुका है। उसके लिए रहन–सहन की जो व्यवस्था की गई है, उसमें हर तरह की सुख–सुविधा का ध्यान रखा गया है। तीन कमरों का काफी खुला मकान है और इस ढंग से बना हुआ है कि उसके दोनों ओर आंगन हैं। ताजी हवा और धूप खूब आती है। इन तीन कमरों में एक इतना बड़ा है कि उसे हाल भी कहा जा सकता है। अनिल ने संगमरमर की जो सिल खरीदी थी, वह दिल्ली ही में पड़ी रह गई। महन्त ने एक नई सिल मंगवाई है जो पहली से कहीं अधिक बड़ी और बेहतर है। यह सिल हाल कमरे में रखी हुई है और मूर्ति–निर्माण का काम भी वहीं होता है। दूसरे दो कमरे अपेक्षाकृत छोटे हैं। एक में कपड़े-लत्ते और जरूरत की दूसरी चीजें रखी रहता हैं और दूसरा सुरुचिपूर्ण ढंग से सजा हुआ है। फर्श पर लाल रंग का काश्मीरी कालीन बिछा हुआ है। एक बढ़िया सोफा–सेट, चंद कुर्सियां और दो मेजें रखी

हैं—एक छोटी और दूसरी बड़ी। बड़ी मेज पर गुलदान हैं, जिनके फूल हर रोज बदल दिये जाते हैं, एक शैल्फ में तीन बड़ी-बड़ी पुस्तकें पड़ी हैं जो शैव धर्म सम्बन्धी हैं। इनमें शैव धर्म की उत्पत्ति, शिव के विभिन्न रूप, उसकी लीला और महिमा का सविस्तार वर्णन है।

वातावरण मन के अनुकूल है। रग्घू नाम का एक अधेड़ उम्र का नौकर है, शरीर सुगठित और लम्बूतरे चेहरे पर बड़ी-बड़ी मूँछें हैं। बाहर के आंगन में उसकी खोली है। वह उसमें इतमीनान से नारियल पिया करता है। पर अनिल की आवाज सुनते ही नारियल रखकर तुरन्त दौड़ता है।

अनिल ने मथुरा में रहकर महन्त योगेश्वर गिरी को और निकट से देखा तो उसका व्यक्तित्व पहले से अधिक आकर्षक जान पड़ा। वह कई बार अकेला बैठा जब अपनी इस स्थिति पर विचार करता तो महन्त के इस रूप की कल्पना करके उससे पूछता—"आप मुझे यहां ले ही आये ?"

"हां, मूर्ति जो बनवानी थी।"

"कहीं बंदी भी कला का निर्माण कर सकता है ?"

"क्यों नहीं ! महमूद सैकड़ों हजारों कलाकारों को भारत से बन्दी बनाकर गजनी ले गया। और उन्होंने खूबसूरत महलों और मस्जिदों का निर्माण किया।"

"वह और बात थी।"

"कैसे ?"

"धर्म बदलने से उनका विश्वास भी बदल गया। नए विश्वास ने उन्हें नई शक्ति प्रदान की।"

"विश्वास !"

"हां, विश्वास के विना कला का निर्माण सम्भव नहीं है।"

"तो आपका विश्वास क्या है?"

"मेरा विश्वास। मैं ईश्वरवादी नहीं हूँ।"

सहसा महन्त योगेश्वर गिरी की समृद्ध हंसी सुनाई पड़ती है। एक वार ऐसा ही प्रसंग छिड़ जाने पर वह खूब हंसा था और फिर आंखें भिचका कर कहा था: "क्या यह खरे ईश्वरवादी हैं? और क्या तुम मुझे सिर्फ मन्दिर का महन्त होने ही से ईश्वरवादी समझते हो। सुनो, मेरे मन में कोई ऐसी भ्रान्ति नहीं। मैं वैदिक युग के मनुष्य की तरह विशुद्ध रूप से भौतिकवादी हूँ। मैंने होश सम्भालते ही कह दिया था कि मैं मन्दिर का महन्त बनना तब पसंद करूंगा जब संध्या करते समय रिजर्व बैंक की चैक-बुक मेरे आसन के नीचे रहा करेगी। और तुम देख रहे हो कि वह रहती है।"

खरे ने कहकहा लगाया था, लेकिन महन्त गम्भीर बना रहा था और उसी आत्म निवेदन के स्वर में उसने आगे कहा था—"कभी ऐसा भी समय था कि हमारे ये मन्दिर कला, संगीत और नृत्य के केन्द्र थे। मैं अपने इस मन्दिर को कला और संगीत का केन्द्र बनाना चाहता हूँ। कला मनुष्य की भावनाओं को कोमल बनाती है।"

अनिल जब भी अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करता तो उसे महन्त के ये शब्द सुनाई पड़ते और सूक्ष्म भावनाओं का परिचय देते। इस सोच में सेठ राधारमण का कोई स्थान नहीं था। उसमें और महन्त में बड़ा अन्तर था।

एक दिन इसी विषय पर सोचते-सोचते उसे अर्चना का ध्यान आया और मन उसे पत्र लिखने के लिए अधीर हो उठा। मथुरा

पहुँचने तक की सारी घटना बता देने के बाद अंत में उसने लिखा——"महन्त जैसा उदार चरित्र व्यक्ति मैंने आज तक नहीं देखा। मैं अपने आचरण पर लज्जित हूं। और अब मैंने निश्चय किया है कि जब तक मूर्ति नहीं बन जायगी, मैं मथुरा से बाहर कदम नहीं रखूंगा।"

अर्चना की ओर से खत का जो उत्तर आया वह और भी उत्साहजनक था। बहन ने उसके निश्चय की सराहना करते हुए लिखा था: "अच्छे कलाकार होने के लिए अच्छा मनुष्य होना जरूरी है। तुम चूंकि अच्छे कलाकार हो इसलिए अच्छे मनुष्य भी हो। हर प्रकार की दुविधा मन से निकाल दो और यह सोच लो कि मंदिर के लिए देवता की मूर्ति नहीं बना रहे बल्कि एक महान कलाकृति का निर्माण कर रहे हो। अगर मेरी मानो तो मैं यह भीं कहूंगी कि अपनी इस कला-कृति को सशक्त और सजीव बनाने के लिए तुम शिव के चरित्र को भी समझो जो प्रकृति से जूझ रहे मनुष्य की उदात्त कल्पना है।"

बहन का यह पत्र पढ़कर अनिल को विश्व-विख्यात चित्रकार लेनार्दो के जीवन की एक घटना स्मरण हो आई। जैसे अनिल महन्त के संरक्षण में शिव की मूर्ति बना रहा था, वैसे ही उसने मिलान के ड्यूक के संरक्षण में 'दि लास्ट सपर' चित्र बनाया था। उसका यह चित्र अमर है और इस चित्र की विशेषता यह है कि जहां ईसा के मुख पर अनुपम दैवी ज्योति है, वहां जूडास का चेहरा भी अपनी कृतघ्नता के कारण दूसरे चेहरों से अलग पहचाना जाता है। लिनार्दो को अपने इस चित्र से जो ख्याति प्राप्त हुई वह "वह मोना लीज़ा" से कुछ कम नहीं है।

अनिल के मन में अब किसी प्रकार की दुविधा नहीं थी।

उसने शैव धर्म सम्बन्धी यह पुस्तकें मंगवाई थीं। वह कुछ दिन लगातार इन्हें पढ़ता रहा। इनके पढ़ने से वाकई बहुत लाभ हुआ। शिव के विचित्र चरित्र को समझने में बड़ी सहायता मिली। अब वह काफी समय मूर्ति बनाने में व्यस्त रहता। जब थक जाता तो फूल-पौधों के दरम्यान टहलते हुए सोचता अथवा फिर से मूड बनाने के लिए पुस्तक पढ़ता। मूर्ति के जो अंश बन चुके थे, उनसे वह संतुष्ट था और इसलिए काम में मन रमता था।

दो-ढाई महीने से वह इतना व्यस्त था कि मथुरा तो क्या उसने मकान से बाहर भी कदम नहीं रखा था। कई बार दो-दो, तीन-तीन दिन शेव भी नहीं कर पाता था। दाढी बढ़ जाती थी।

उस दिन काम से निपट कर दो बजे के करीब शेव बनाई, नहाया और खाना खाकर तनिक लेट गया। जब आंख खुली तो पांच बज चुके थे। मन कुछ उखड़ा-उखड़ा सा था। उसने शैल्फ से एक किताब उठाई। इसमें देवताओं की उत्पत्ति का प्रकरण उसे विशेष रूप से पसंद था, जिसे वह पहले भी कई बार पढ़ चुका था। अब फिर पढ़ने लगा। लिखा था कि आर्य लोग जब हिमालय की घाटी में आकर बसे और प्रकृति ने धीरे-धीरे उनके विचारों का निरूपण शुरू किया तो उस पहाड़ को जिस पर देवदार और चिनार के सुन्दर और छतनार पेड़ उगते थे और नाना प्रकार के फूल खिलते थे, उन्होंने विष्णु का प्रतीक मान लिया। और जिस पहाड़ पर बर्फ जमी रहती थी और ग्लेश्वरों के पिघलने से नदियों में बाढ़ आती थी, उसे शिव का प्रतीक माना। इसके बाद की पंक्तियां अनिल ने सस्वर पढ़ीं। उनके तले उसने पहले ही नीली पेंसल से लकीरें खींच रखी थीं।

"हिमालय की रूपवती पुत्री पार्वती अथवा उमा वसंत

का प्रतीक है। वह साल में एक बार जब शिव को तप से चौंकाती हैं तो उसके बर्फ के परिधान का अधिकांश भाग पिघल जाता है और पहाड़ की ढलवानों पर फूल खिलते हैं। शिव ब्रह्मांड की वह विस्तृत रेखा है, जिसके एक छोर पर सूर्योदय और दूसरे पर सूर्यास्त है। इससे जो चक्कर बनता है, जीवन रथ उसीकी परिधि में घूमता और पूर्व-जन्म का सर्प रेंगता है।

"पढ़ने में बड़े मस्त हैं।" अनिल चौंका। खरे सामने खड़ा मुस्करा रहा था।

"क्या करें तुम्हारा रोग हमें भी लग गया।" अनिल पुस्तक हाथ में लिये-लिये उठ खड़ा हुआ।

"बैठो। मैं भी बैठता हूं।" खरे बेतुकल्लुफी से मेज के पास एक कुर्सी पर बैठ गया।

"लो, तुम भी देखो। कैसी अद्भुत कल्पना है।" अनिल ने पुस्तक उसकी ओर बढ़ा दी।

खरे पढ़ रहा था और अनिल चुपचाप उसके मुख की ओर देख रहा था क्योंकि वह इस अनुपम कल्पना के प्रति उसकी प्रतिक्रिया जानना चाहता था। मगर खरे की आंखों या चेहरे का भाव जरा भी नहीं बदला। उसने वे पंक्तियां पढ़कर किताब मेज पर रखदी और मुंह से एक शब्द भी नहीं कहा।

"क्या बात है आज कुछ उदास मालूम होते हो?" अनिल ने पूछा।

"उदास नहीं हूं" गम्भीर हूं।" खरे ने धीरे से उत्तर दिया।

"ऐसी क्या समस्या आ पड़ी है कि तुम्हें गम्भीर होना पड़ा?"

"समस्या आज की नहीं, हमेशा की है। मित्र, मैं अक्सर सोचता हूं कि आखिर इस जिंदगी से क्या लाभ है?"

"पर मैं तो ये शब्द तुम्हारे मुख से पहली वार सुन रहा हूं वरना हमेशा तो तुम्हे चहकते ही देखा हूं।"

"इसका मतलब है कि तुमने मेरी चहक को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया।"

"हो सकता है प्रयत्न न किया हो। लेकिन ......"

"लेकिन-वेकिन कुछ नही छोड़ो इस किस्से को। उठो चलें।"

"कहां ?"

"महन्त ने याद फरमाया है ।"

"अगर फुरसत हो ?"

"सोच लो, उन्होंने यही कहा था कि अगर फुरसत हो तो चले आयें।"

अनिल ने एक क्षण चुप रह कर सोचा और फिर कहा—— "अच्छा, चलता हूं ।"

खरे वहीं बैठा पुस्तक के पन्ने पलटता रहा। अनिल ने दूसरे कमरे में जाकर कपड़े बदले और वह पांच मिनट में तैयार हो कर लौट आया।

मंदिर में महन्त के अलावा एक महिला भी मौजूद थी। अनिल ने दोनों को प्रणाम किया और वैठ गया। कारण यह कि वह महिला से भी भली भांति परिचित था। उसकी उम्र चौंतीस पैंतीस साल के करीब होगी। रंग गोरा, आंखें बड़ी-बड़ी और देह मांसल थी। वह पलकें झुकाये यों शांत और गम्भीर वैठी थी कि अपने बर्फ जैसे सफेद परिधान में प्रतिमा सी मालूम होती थी। उसके दो नाम और दो रूप थे। महन्त ने एक भजन मंडली संगठित कर इस महिला को सौंप रखी थी। उसकी स्वरलहरी इतनी मधुर थो कि जब वह मीरा और सूरदास के भजन गाकर

सुनाती तो भक्तजन झूम-झूम जाते। वे उसे देख कर श्रद्धा से हाथ जोड़ते और "मां भगवती देवी" कह कर पुकारते थे। वह भजन मंडली के साथ घरो में भी कीर्तन करने जाती थी और वहां भी उसका यही नाम प्रसिद्ध था।

मंदिर और भजन मंडली से बाहर उसका एक निजी जीवन था जिसमें सफेद परिधान ही नहीं कृत्रिम गम्भीरता का खोल भी उतर जाता था। तब वह मन पसंद साड़ी पहन कर और घड़ी लगाकर चंचल रमणी बन जाती थी। इस रूप में उसका नाम भी भगवती देवी के बजाय कंचनलता होता था। अनिल ने उसके ये दोनों रूप देख रखे थे। पहले-पहल उसे बहुत ही आश्चर्य हुआ था कि एक ही महिला दो रूप और दो नामों का निर्वाह कैसे कर रही है। पर देखते-सुनते अब वह इतना अभ्यस्त हो गया था कि मन से कौतूहल तथा आश्चर्य का भाव निकल गया था।

"कहिए क्या हाल है ?" महन्त ने मुस्कराते हुए पूछा।

"कृपा है आपकी।" अनिल ने विनीत उत्तर दिया।

"बहुत व्यस्त मालूम होते हैं। काम से फुरसत ही नहीं मिलती।"

"सोचता हूँ कि आपको बहुत परेशान किया। अब उसकी कसर पूरी करदूं।" अनिल ने ऐसे विनोद भरे स्वर में कहा कि खरे और कंचनलता की आंखें भी उसकी तरफ उठ गईं।

लेकिन महन्त गम्भीर हो गया क्योंकि उसे सारी घटना स्मरण हो आई और उसने महसूस किया कि अनिल सचमुच अपने आचरण का प्रायश्चित कर रहा है।

"देखिये, अनिल जी," महन्त ने कोमल स्वर में कहा, "हमारी तरफ से अब भी कोई जल्दी नहीं है। आप इत्मीनान

से काम कीजिये।"

"कहने की जरुरत नहीं। मैं भी आपको पहचान गया हूँ।" अनिल ने नज़रें उठाकर महन्त की ओर देखा। बात शायद यहीं खत्म हो जाती, पर उसे सहसा एक घटना स्मरण हो आई और उसने मुस्करा कर आगे कहा—"आप मिलान के पादरी महोदय नहीं है।"

"पादरी महोदय से आपका क्या अभिप्राय है? उन्होंने क्या किया था?" महन्त ने चौंक कर प्रश्न किया।

"पादरी महोदय की बात नहीं सुनी?"

"नहीं।"

"लेनार्दोका नाम तो सुना होगा?"

"हां, सुना है। उन्होने मोना लीज़ा नाम का प्रसिद्ध चित्र बनाया था।"

"ठीक है।" अनिल बोला, "इसी महान् कलाकार ने "दि लास्ट सपरे" नाम का एक दूसरा प्रसिद्ध चित्र मिलान के ड्यूक के संरक्षण में तैयार किया था"

"यह हमें मालूम नहीं।"

"यह चित्र ईसा मसीह के जीवन की उस घटना से सम्बन्धित है, जब उसने अपने बारह शिष्यों के साथ अन्तिम भोजन करते हुए कहा था—"मैं निश्चित रूप से कहता हूँ कि तुम में से कोई एक मुझे धोखा देगा।" और ईसा की यह भविष्य वाणी ठीक निकली क्योंकि जुडास नाम के शिष्य ने वाकई उन्हें धोखा दिया।"

"यह कथा हमें मालूम है।" महन्त बोला।

'अब बात समझने में आसानी रहेगी।" अनिल मुस्कराया और एक नज़र खरे की ओर देखकर आगे कहा, "लेनार्दो ने यह

चित्र बड़ी मेहनत से बनाया और समय कुछ अधिक लगा ' ड्यूक ने उन्हें अपनी ओर से पूरी छूट दे रखी थी। लेकिन देर होती देख वहां का मुख्य पादरी चिढ़ गया।"

"पादरी को चिढ़ने का क्या अधिकार था?" खरे बोला।

"अधिकार यह था कि वह ड्यूक का धार्मिक गुरु था और चित्र भी धार्मिक था।"

"और शायद उसी की फरमायश से बना रहा हो।" कंचनलता पहली बार बोली और सब मुस्कराये।

"खैर आप बात कहिए।" महन्त ने अनिल से कहा।

"पादरी ने ड्यूक से कहा कि आप चित्रकार को डांट कर काम जल्दी करवाइये। जब यह बात लेनार्दो तक पहुँची तो उसने विनम्रता पूर्ण उत्तर दिया कि चित्र लगभग बन चुका है। कठिनाई यह है कि जुडास का कृत्घ्न चेहरा पकड़ में नही आ रहा। पादरी महोदय अगर बहुत जल्दी मचाते हैं तो मैं जुडास के स्थान पर उनका चेहरा रखे देता हूँ।"

इस पर खूब जोर का कहकहा पड़ा। महन्त और खरे के अलावा कंचनलता अर्थात भगवती देवी भी हंस रही थी। वह हंसना ही उसका वास्तविक मानवीय रूप था जो चित्रकार के मन पर अंकित हो कर रह गया।

"आप भी कहीं हम में से किसी को जूडास के स्थान पर न रख देना।" वह खूब हंस लेने के बाद स्मृद्ध स्वर में बोली।

"मेरी मूर्ति में जूडास का कोई स्थान नहीं। उसमें तो शिव और पार्वती दो ही पात्र हैं।" अनिल ने उत्तर दिया।

"तब आप पार्वती के स्थान पर इन्हें रख सकते हैं।" खरे बोला।

"मेरा यह परम सौभाग्य होगा।" वह एक क्षण के लिए चहकी और फिर गम्भीर मुद्रा धारण कर ली।

बात कला से हट कर धर्म और राजनीति तक जा पहुँची।

खरे का उदास मुख खिल उठा और उसने फ्रांसिसी साहित्य और क्रांति का उल्लेख करते हुए कहा: वाल्तेयर ने पादरियों की खूब खिल्ली उड़ाई है।"

"दरअसल धर्म का युग तब बीत चुका था।" अनिल ने बात में बात मिलाई और कहा, "क्रांति कला और साहित्य के लिए नई भाव-भूमि तैयार करती है।"

महन्त कुछ देर उनकी बातें शांत मन से सुनता रहा और फिर घड़ी देखकर बोला: "हम लता जी से एक गाना सुनते। पर समय अब काफी हो गया।"

तीनों ने महन्त का अभिप्राय समझ लिया और वे मूक दृष्टि से एक दूसरे की ओर देखते हुए उठ खड़े हुए।

"अनिल जी, तनिक रुकिये।" महन्त फिर बोला।

"कहिए।"

"हम कल मद्रास जा रहे हैं। खरे भी हमारे साथ होंगे। सात आठ दिन में लौटेंगे। लता जी हर बात का ध्यान रखेंगी। आप को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा।"

"धन्यवाद।"

अनिल ने उत्तर दिया और खरे की ओर देख कर आंखों ही आंखों में यों मुस्कुराया जैसे कह रहा हो: "तुम आज इतने उदास क्यों थे, कारण मैं समझ गया हूँ।"

बारह

हिमालय की सुन्दर बेटी पार्वती के हाथ में एक नन्हा अधखिला कमल का फूल था। अनिल पिछले दो दिन से इसी को बनाने में व्यस्त था। बड़ा बारीक काम था। जरा हाथ बहक जाने में अर्थ का अनर्थ हो जाने की सम्भावना थी। उसे अपनी कला द्वारा पत्थर की पंखुड़ियों को ताजगी और कोमलता प्रदान करनी थी।

फूल में एक पंखुड़ी की कमी थी। अनिल सुबह इसे बनाता रहा था और अब तिपहरी के बाद भी इसी को बना रहा था। छैनी पर हथौड़ी का प्रहार करता तो बड़ी सावधानी से, बहुत ही धीरे-धीरे। इन प्रहारों से जब नन्हें-नन्हें कण उड़ते तो कलाकार को अपने भीतर भी कुछ टूटता-झड़ता महसूस होता। कठोर पत्थर में कोमल पंखुड़ी विकसित होते देख कभी वह सानंद मुस्कराता और कभी कुछ गुनगुनाने लगता।

वह लगातार दो-डेढ़ घंटे छैनी चलाता और गुनगुनाता रहा।

पत्थर में कमल उग रहा था और हृदय से राग फूट रहा था। श्रम का अनुपम उल्लास कलाकार की आंखों में चमक उठा था।

जब उसने छैनी अलग रखकर गर्दन सीधी की और सिल पर नज़र डाली तो पंखुड़ी बन गई थी और फूल मुकम्मिल हो चुका था। वह कुछ क्षण स्थिर खड़ा देखता रहा।

"फूल लाजवाब बना है!" आखिर उसने सोल्लास घोषणा की।

उसने सिल पर रेखाएं खींच कर मूर्ति की रूपरेखा निर्धारित कर रखी थी। चित्र में देख-देख कर वह उसका कभी कोई अंश बनाता था और कभी कोई। इस बात का वह विशेष ध्यान रखता था कि एक भी विवरण छूटने न पाये, मूर्ति चित्र की हू-बहू प्रतिलिपि हो।

दो दिन पहले उसने शिव की जटाओं में अटका हुआ चांद अंकित किया था और सांप—अनन्त का सांप, पुनर्जन्म का प्रतीक सांप चांद के अर्ध वृत्त में से निकल कर शिव के माथे पर फन फैलाये हुए था।

अब उसने फूल मुकम्मिल करके ऊपर देखा तो स्वतः बोल उठा :

"चांद, सांप और कमल!"

प्रकाश, विष और सुगन्ध का कितना मधुर सामंजस्य है। आदि मनुष्य भीषण परिस्थितियों से जूझता हुआ भी नाचता-गाता और अपने भावी सपनों को आशाओं और आकांक्षाओं से उज्ज्वल बनाता था। अनिल की दृष्टि चिकने संगमरमर पर फिसल रही थी। वह कभी चाँद और सांप पर और कभी कमल पर जा अटकती थी और उसकी स्मृति में शिव सम्बन्धी वे अनेकों

कथाएं रंग उठी थीं, जो उसने पढ़ी या सुनी थीं।

"मानव कल्पना ने शिव से अधिक विचित्र चरित्र का निर्माण नहीं किया।"

अनिल को खरे का वाक्य याद आया और वह दृश्य याद आया जब उसने दांतों से जीभ काटकर और दोनों हाथों से कान पकड़कर भूल सुधारने का अभिनय किया था।

खरे का यह नटखट रूप पहली भेंट में देखा था और इसके विपरीत दूसरा रूप कल देखने को मिला, जब वह इतना थका हुआ था कि किताब के शब्दों की भी उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई और उसने गम्भीर बन कर व्यथित स्वर में कहा था—"आखिर इस जिंदगी का लाभ क्या है?"

महन्त अनिल ने स्टूडियो में दो बार जा चुका था। वहां उसने सोफा देखा था और समझ लिया था कि कलाकार जब काम के दौरान थक जाता है तो सोफे में बैठ कर आराम करता है। अतएव उसने हाल कमरे में भी एक उम्दा बढ़िया आरामदेह सोफा लगवा दिया था। अनिल का जब भी जी चाहता इसमें बैठ कर आराम करता अथवा कोई बात सोचता और उठ कर फिर काम करने लगता।

अब खरे का ध्यान आते ही उसने छैनी और हथोड़ी अलग रख दी और सोफे में बैठ कर खरे के बारे में सोचने लगा।

अनिल की खरे के साथ पहली ही भेंट में काफी घनिष्ठता स्थापित हो गई थी। मथुरा में आकर रहने के बाद वह और बढ़ गई। कला, इतिहास, धर्म और दर्शन आदि विभिन्न विषयों पर अकसर चर्चा रहती। वे इकट्ठे खाते-पीते और गपशप करते। खरे विनोदी व्यक्ति था। जिंदगी हल्के-फुल्के ढंग से बिता रहा

था और जरा-जरा सी बात पर चहक उठता था। उसने अपने बारे में कभी एक शब्द भी नहीं कहा था। अब तक जीवन जैसे भी बीता, बीत गया और भविष्य की भी उसे चिंता नहीं थी। जो बात पसंद आ जाती, उसकी एक सरल और निरीह बालक की भांति गद्‌गद् मन से प्रशंसा करता और जो अरुचिकर जान पड़ती, उस पर व्यंग्य-प्रहार कर के विद्रूप भाव से मुस्कराता। उसके ऊपरी व्यवहार से अनुमान लगाया जाय तो यही निष्कर्ष निकलता था कि उसके निकट जीवन की एक मात्र सार्थिकता प्रसन्न रहना और मुस्कराना है।

मगर जब अनिल एकांत में बैठा खरे के बारे में सोचता और उसकी इन मुस्कराहटों को निचोड़ता तो उसमें से गहराई में छिपे घावों की पीड़ा टपकती और खरे की विनोदशीलता उस व्यक्ति का मुखौट दिखाई देती जो जिंदगी के दांव पर आशा और अभिलासा तक हार बैठा हो।

और आखिर खरे ने खुद वह मुखौट उतार फेंका और रिसते हुए घाव उघाड़ कर कहा :

"इसका मतलब है कि तुमने मेरी चहक को समझने का प्रयत्न ही नहीं किया।"

"हो सकता है प्रयत्न न किया हो लेकिन....."

महन्त और लता की उपस्थिति में उसने फिर मुखौट पहन लिया और पादरी की हीन प्रवृत्ति पर अंग-प्रहार करके फिर सब का ध्यान अपने विनोदशील व्यक्तित्व की ओर आकर्षित किया।

और महन्त के मद्रास जाने की बात से मुखौट उतार फेंकने का रहस्य खुल गया।

मद्रास, कलकत्ता, नागपुर, पूना आदि शहरों की धार्मिक

संस्थाएं महन्त योगेश्वर गिरी को अपने धार्मिक उत्सवों पर सादर निमन्त्रित करती रहती थी। वहां वह जो भाषण देता था, उनकी बडी धूम थी। कारण, वह परम्परागत धार्मिक विश्वासों को आधुनिक परिस्थितियों के अनुरूप ढाल कर प्रस्तुत करता था और भाषण का बौद्धिक स्तर भी सामान्य धार्मिक भाषणों से ऊंचा होता था। इन भाषणों से न सिर्फ मान प्रतिष्ठा और यश प्राप्त होता बल्कि मन्दिर के लिए धन भी आता था। बहुत से सेठ, कारखानेदार और बड़े अफसर महन्त योगेश्वर गिरी के अनन्य भक्त थे।

एक दिन अनिल खरे के कमरे में बैठा "अध्यात्म बोध" नाम की एक धार्मिक पत्रिका के पन्ने यों ही अनमना-सा उलट रहा था कि अचानक "टैगोर और गीतांजलि" शब्दों पर दृष्टि पड़ जाने से वह चौंका। अब पन्ना उलटे देना सहज नहीं था। पहले इधर-उधर से दो चार पंक्तियां देखी और फिर पूरा लेख पढ़ने की उत्सुकता जागी। शुरू से देखा तो कौतूहल और बढ़ा क्योंकि प्रस्तुत लेख "ईश्वर भक्ति" सम्बन्धी एक भाषण पर आधारित था जो महन्त योगेश्वर गिरि ने सनातन धर्म सभा कानपुर के वार्षिकोत्सव में दिया था।

अनिल ने भाषण पढ़ना शुरू किया। इसमें जो विचार व्यक्त हुए थे वह ईश्वर और धर्म सम्बन्धी महन्त के निजी विचारों से सर्वथा भिन्न थे, मगर उनमें एक नवीनता थी। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। इसे हम मनुष्य की श्रद्धा-वृत्ति की सर्वोच्च स्थिति भी कह सकते हैं। दार्शनिक भाषा में भक्ति के दो रूप हैं—(१) सगुणवादी भक्ति और निगुर्ण वादी भक्ति। सगुण वादी भक्ति के अनुसार भगवान जन्म धारण करता है। राम और

कृष्ण भगवान के अवतार हैं और उनके उपासक "भक्त" नाम से पुकारे जाते हैं। निगुर्ण भक्ति के अनुसार ईश्वर निराकार है। वह सिर्फ अन्तरचक्षु ही से दृश्यमान है। उसके इस रूप के उपासक "सन्त" कहलाते हैं।

इसके बाद बताया गया था कि जन साधारण अपनी भावुकता के कारण सगुण उपासना की ओर झुकते हैं क्योंकि यह श्रद्धा का सरल मार्ग है। लेकिन जो विवेकवादी अथवा बुद्धिवादी हैं, वे निगुर्ण उपासना अथवा ज्ञान का मार्ग अपनाते हैं। फिर जब विवेक और बुद्धि का ह्रास और धर्म का पतन हुआ तो भक्ति-भावना भी जड़ और रूढ़ हो कर रह गई। भजन-पूजन, साधन, अराधना को ही भक्ति समझ लिया गया। लेकिन गति जीवन का स्वभाव है। इसलिए यह स्थिति अधिक समय न टिक सकी। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द द्वारा भक्ति भावना का जो मानसीकरण हुआ उसका परिष्कृत रूप हमें महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर की गीतांजलि में मिलता है। उन्होंने मंदिर में बैठे माला जप रहे पुजारी से कहा—अरे तेरा देवता मन्दिर में नहीं है, वह तो वहां गया है जहां किसान धरती जोत रहा है और जहां श्रमिक पत्थर तोड़ रहा है।

"रवीन्द्र ने ईश्वर का ईश्वरत्व मानव में ही देखा। और मानव पूजा ही ईश्वर-पूजा के समान पवित्र वस्तु हो गई। सामान्य श्रमजीवी में ईश्वर का दर्शन अध्यात्मिक जगत में महा क्रान्ति थी। औद्योगिक क्रान्ति के साथ-साथ भक्ति दर्शन में यह क्रान्ति योरुप में भी आई थी। "अबू बिन आदम" नाम की कविता का मूल स्वर मानव-प्रेम ही है...."

अनिल एक बार फिर चौंका। खरे का मुस्कराता हुआ

सांवला चेहरा सामने उभर आया। गीतांजली की वात छिड़ जाने जाने पर भक्ति दर्शन में क्रांति की व्याख्या उसने इन्हीं शब्दों में की थी और ' अबु विन आदम" कविता का उदाहरण भी दिया था फिर कानपुर जाने से पहले अनिल को खरे के हाथ का लिखा हुआ एक पुर्जा हाथ लग गया था और वह उसने सरसरी नजर से पढ़ भी लिया था—"भक्ति के अनेक प्रकारों में एक सख्य भाव की भक्ति भी है। संत कवि सूरदास की भक्ति इसी प्रकार की है। उसमें भगवान भक्त के समक्ष होता है। आदर-श्रद्धा का भाव जव मिट जाता है और निकटता आ जाती है तो भक्ति प्रेम का पद प्राप्त कर लेती है। गीतांजलि की भक्ति का इससे कुछ विरोध नहीं है वल्कि भक्ति की इस गंगा में प्रेम की जमुना भी आ मिली है ...."

अनिल को ये विचार मौलिक लगे थे, इललिए वह सारा पुर्जा पढ़ गया था और पढ़कर यह ताज्जुव भी हुवा था की खरे जो ईश्वर के अस्तित्व तक को स्वीकार नहीं करता, उसे भक्ति संवंधी ये उद्‌गार लिखने की जरूरत क्या आ पड़ी। लेकिन यही शब्द "अध्यात्म वोध" पत्रिका में प्रकाशित भाषण में भी मौजूद थे। तभी अनिल के मन में यह वात उठी थी कि महन्त जो विद्वता-पूर्ण भाषण देता है, वे सम्भवतः खरे द्वारा ही लिखे जाते हैं। लेकिन वह महन्त की अपनी योग्यता से भी प्रभावित था और उसे मौलिक और उदार विचारों का विद्वान व्यक्ति समझता था। इसलिए एकदम ऐसी धारणा वना लेना उसे महन्त के प्रति अन्याय जान पड़ता था। यह भी तो सम्भव था कि महन्त अपने भाषण और लेख खरे से वोलकर लिखाता हो। यों उसने अपनी अशंका को निराधार वनाने का प्रयत्न किया था।

लेकिन इस समय एक दूसरी छोटी-सी घटना भी अनायास मस्तिष्क में उभर आई।

मथुरा में उनके अपने मंदिर का वार्षिक उत्सव था। महन्त के श्रद्धालु और भक्त दूर-दूर से आये हुए थे। वे हर साल आते थे और सामर्थ्य के अनुसार चढ़ावा चढ़ाते थे। इस अवसर पर महन्त ने भारतीय संस्कृति पर जो भाषण दिया था, वह इत्तफाक से अनिल ने भी सुना था और उसे पसंद भी आया था।

"सुनकर मन प्रसन्न हुआ। बहुत ही विद्वतापूर्ण भाषण था।" अनिल ने महन्त से कहा।

कलाकार के मुख से अपने भाषण की प्रशंसा सुनकर महन्त का खिला हुआ चेहरा और भी खिल गया। होठों पर मुस्कराहट आई और आंखें चमक उठीं।

"भावुकता बिल्कुल नहीं थी।" अनिल फिर बोला, "शुरू से आखिर तक सारा भाषण तर्कसंगत था।"

उस समय खरे भी वहीं मौजूद था। अनिल से प्रशंसा सुनकर महन्त को प्रसन्न होते हुए और मुस्कराते देख वह भी मुस्कराया। लेकिन होंठ जरा इस अंदाज से घूम गये कि उसकी मुस्कराहट उपहास-चिन्ह बन कर रह गई और निरीह मुख पर कुटिलता और विद्रूप की छाप दिखाई दी।

"फिर आपके भाषण का विशेष गुण यह है कि सामान्य स्तर के लोग भी उसे भली-भांति समझ सकते हैं।" खरे ने तुरंत सम्भल कर बात में बात मिलाई।

महन्त ने खरे के मुख से नज़र घुमा ली थी। उसने यह वाक्य औपचारिक शिष्टता से सुना और तुरंत अनिल से विदा ले मुस्कराता हुआ चला गया।

अनिल ने सिगरेट जलाया और एक लम्बा कश खींचकर सिर सोफे की पुश्त पर रख दिया। आज यह बात स्पष्ट हो गई थी कि महन्त के भाषण खरे लिखता है और वह साथ इसलिए जाता है कि सामान्य पत्रों और धार्मिक पत्रिकाओं के लिए भाषण की संक्षिप्त और विस्तृत रिपोर्टें भी वही तैयार करता था।

कलाकार कश पर कश लगाकर धुआं छोड़ रहा था और उसके भरगूलों में वह न सिर्फ खरे की मुस्कराहट को उपहास चिन्ह में बदलते देख रहा था बल्कि उसे यह भी याद आ रहा था कि कानपुर जाने से पहले भी वह इसी तरह उदास था जैसे अब मद्रास जाते समय था।

सामने छोटी-सी चौकोर मेज़ पर सीप की सुन्दर ऐश-ट्रे रखी थीं। अनिल एक झटके से उठ बैठा और अधजले सिगरेट को धीरे-धीरे ऐश ट्रे में बुझाने लगा। उसके होंठ भिंचे हुए थे और आंखें गहरा गई थी।

"बेटा!" वह गर्दन सीधी कर के बुदबुदाया, "उदासी को गम्भीरता कहना व्यर्थ का तर्क है। तुम श्रम से नहीं उस अत्याचार से टूट जाते हो, जो भाषण लिखते समय तुम्हें अपने ऊपर करना पड़ता है।"

और वह खरे की मुस्कराहटों की   में रिस्ते हुए घाव देख रहा था।

तेरह

तीन कमरों के अतिरिक्त मकान के भीतर जो दूसरा खुला आंगन था, उसमें बेल-बूटे और फूल-पौधे उगे हुए थे। अनिल जब पढ़ते-पढ़ते अथवा काम करते-करते थक जाता तो आंगन में आकर टहलने लगता। अंतर्मुखी दृष्टि जब धीरे-धीरे बाहर झांकना शुरू करती तो वह और सब कुछ भूल कर पेड़, पत्ते और फूलों का सौंदर्य निहारने में रम जाता।

मार्च का महीना था और मौसम बदलते ही नई टहनियां, नई कोंपलें और नए पत्ते निकल आये थे और अब फूल खिल रहे थे। छोटे दो कमरों के आगे जो बरामदा था, उसकी दीवार पर 'क्रीपिंग' बेल फैली हुई थी। उस पर फूलों के गुच्छे उगे थे। ये फूल रात के फूटते समय सफेद होते थे और उनकी भीनी-भीनी सुगन्ध वातावरण को महका देती थी। सुबह ज्यों-ज्यों धूप लगती फूलों का रंग बदलते-बदलते गहरा लाल हो जाता।

अनिल ने सिगरेट जलाया और एक लम्बा कश खींचकर सिर सोफे की पुश्त पर रख दिया। आज यह बात स्पष्ट हो गई थी कि महन्त के भाषण खरे लिखता है और वह साथ इसलिए जाता है कि सामान्य पत्रों और धार्मिक पत्रिकाओं के लिए भाषण की संक्षिप्त और विस्तृत रिपोर्टें भी वही तैयार करता था।

कलाकार कश पर कश लगाकर धुआं छोड़ रहा था और उसके भरगूलों में वह न सिर्फ खरे की मुस्कराहट को उपहास चिन्ह में बदलते देख रहा था बल्कि उसे यह भी याद आ रहा था कि कानपुर जाने से पहले भी वह इसी तरह उदास था जैसे अब मद्रास जाते समय था।

सामने छोटी-सी चौकोर मेज़ पर सीप की सुन्दर ऐश-ट्रे रखी थी। अनिल एक झटके से उठ बैठा और अधजले सिगरेट को धीरे-धीरे ऐश ट्रे में बुझाने लगा। उसके होंठ भिचे हुए थे और आंखें गहरा गई थीं।

"बेटा!" वह गर्दन सीधी कर के बुदबुदाया, "उदासी को गम्भीरता कहना व्यर्थ का तर्क है। तुम श्रम से नहीं उस अत्याचार से टूट जाते हो, जो भाषण लिखते समय तुम्हें अपने ऊपर करना पड़ता है।"

और वह खरे की मुस्कराहटों की में रिस्ते हुए घाव देख रहा था।

"यह तो पक्षियों ने वाकई विलक्षण बुद्धि का परिचय दिया हैं।" लता ने घोंसले को इधर-उधर से खूब अच्छी तरह देखकर कहा और फिर पूछा : "अब वे इसमें अंडे देंगे ?"

"अंडे देंगे, तभी तो तिनका-तिनका चुन कर घोंसला बनाया है, भावी संतान के लिए घर बसाया है।"

अनिल ने निरीह भाव से उत्तर दिया। पर लता ने पूर्ण वाक्य शायद सुना और शायद नहीं सुना क्योंकि वह घोंसले की ओर देखती हुई जाने किस विचार में खो गई थी। उसकी बड़ी-बडी स्याह आंखो में स्नेह-सिक्त हल्कि-सी मुस्कान थी और मुख पर नारी-सुलभ वात्सल्य की आभा थी।

अनिल अनार से दृष्टि हटा कर लता की ओर देखने लगा।

"मैं आपको बहुत सुन्दर लग रही हूं ?"

लता ने तनिक घूम कर और वक्ष पर से फिसल गई साड़ी को दुरुस्त करते हुए पूछा। उसका मधुर स्वर अब और भी मधुर था।

"जो सुन्दर है वह तो सुंदर लगेगा ही।" अनिल ने उत्तर दिया और वह एकटक उसके मुख की ओर देखता रहा।

कलाकार की दृष्टि देवता की दृष्टि की भांति निर्विकार थी। कंचनलता को उसमें किसी प्रकार की चुभन के बजाय एक प्रकार का सुख महसूस हुआ और वह आंखें पूरी खोले स्थिर और अचल खड़ी रही।

"नारी का यह रूप सबसे सुंदर रूप है।" अनिल फिर बोला, "हम कलाकारों ने उसे कुरेदने का बहुत प्रयत्न किया है, पर कुरेद नहीं पाये।"

"कौनसा रूप ?" लता ने धीरे——बहुत धीरे से कहा।

बेल के निकट ही अनार का एक पेड़ था। उस पर उनावी रंग के फूल बहुत ही भले मालूम हो रहे थे। अनिल इस समय उन्हीं को देख रहा था। धीरे-धीरे उसकी दृष्टि फूलों से हट कर अनार की टहनियों में उलझ गई और वहां वह उत्सुकता और कौतूहल में भरा जाने क्या देखने लगा।

"आप जो कुछ देख रहे है क्या मैं भी देख सकती हूं?"

एक मधुर महीन स्वर सहसा उसके कान में पड़ा।

"ओह, लता देवी!" उसने चंद कदम परे खड़ी रमणी की ओर मुस्कराकर देखा और फिर कहा "आइए, आइए। जरूर देखिए।"

कंचनलता जिसे अनिल 'लतादेवी' कहता था सलेटी रंग की साड़ी और पीला ब्लाउज पहने हुए थी। एक हाथ में पांच छः काली चूड़ियां और दूसरे में घड़ी बंधी थी। मंदिर वाली भगवती देवी से उसका यह रूप सर्वथा भिन्न था। अब वह शांत और गम्भीर प्रौढ़ा महिला नहीं जान पड़ती थी बल्कि उसके चंचल यौवन में मोतिये की कली जैसी ताजगी, कोमलता और सुगन्ध थी।

उत्तर सुनते ही वह आगे बढ़ी और निस्संकोच मूर्तिकार के साथ कंधे से कंधा मिलाकर आ खड़ी हुई।

"यह गौरेया का घोंसला है।" अनिल ने अनार की टहनियों के दरम्यान उस चीज़ की ओर संकेत किया, जिसे वह निहार रहा था——————"देखिये, पक्षियों में भी बुद्धि होती है। घोंसले के लिए जो स्थान चुना है वह तीन टहनियों का संगम है। मेंह आये, आंधी चले यह स्थान सुरक्षित है। पेड़ चाहे कितना ही झूमें डोले घोंसला नहीं गिरेगा, क्योंकि उसे दायें-बायें दोनों ओर से सहारा मिलता है।"

"आओ, भीतर चलें।" अनिल बोला।

"हां, बेचारी गौरैया अपना घोंसला बनायेगी।"

वे दोनों भीतर आये। अनिल ने सोफे में बैठकर सिगरेट जलाया और आहिस्ता-आहिस्ता पीने लगा। लता उसके दांई ओर कुर्सी पर बैठी थी और खिड़की से भीतर आ रही सूरज की अंतिम किरनें उसके मुख पर पड़ रही थीं, जिससे उसका सांवला रंग चमक उठा था। पर अनिल की नज़र मुख पर नहीं थी, वह लता के बायें हाथ को देख रहा था जो असावधानी से कुर्सी के बाजू पर रखा हुआ था। उसके हाथ छोटे-छोटे और अंगुलियां कमल नील के सदृश्य नाजुक थीं।

हाथ की पुश्त पर दरम्यान की अंगुली से जरा ऊपर एक तिकोना निशान था, अनिल की दृष्टि उसी पर केंद्रित थी।

"वह चुपचाप सिगरेट पीता और उसे देखता रहा। लेकिन देखने से शायद तबियत नहीं भरी, इसलिए उसे अंगुली से सहलाया और फिर यकायक इस नन्हें बायें हाथ को कुर्सी के बाजू से उठा कर अपने दायें हाथ पर रखा और निशान को चूम लिया।

लता ने किसी प्रकार का विरोध नहीं किया। वह विचलित भी नहीं हुई। सूरज की किरनें उसके मुख पर बदस्तूर पड़ रहीं थी और वह निश्चल और स्थिर बैठी थी।

"मैं इस निशान को बहुत दिनों से देख रहा हूं।" अनिल ने लता का हाथ को अपने हाथ में थामे हुए कहा, "मुझे यह बहुत प्यारा लगता है।"

"वह क्यों!"

अनिल ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह लता के हाथ को अपने दूसरे हाथ से सहलाते हुए सोचता रहा।

"स्नेह और वात्सल्य का। भ्रातृत्व का।"

लता लजा गई जैसे कोई बच्चा चोरी की मिठाई खाते सहसा पकड़ा गया हो।

इसी समय गौरेया जोड़े का एक पक्षी चोंच में तिनका लिये आया और उन्हें खड़े देख पेड़ की ओर बढ़ने के बजाय दीवार की मुंडेर पर ठिठक गया।

लता और अनिल दोनों ने एक साथ पक्षी की ओर देखा।

"यह नर है या मादा?" लता ने पूछा।

"मुझे तो मादा मालूम होती है।" अनिल ने उत्तर दिया।

पक्षी दीवार से उड़कर एक टहनी पर आ बैठा, पर घोंसले की ओर अब भी नहीं बढ़ा।

"हमसे डर रही है।" लता बोली।

"आपसे तो क्या मुझ ही से डरती होगी।"

"नहीं!" लता ने आंखों की स्याह पुतलियां घुमा कर कहा, "कलाकार से कोई कैसे डरेगा?"

"कलाकार तो आप भी हैं।"

"मैं?"

"हां। संगीतकार क्या कलाकार नहीं होता?"

अनिल मुस्कराया। यह प्रश्न नहीं सत्य की सानुरोध अभिव्यक्ति थी। लता जाने क्यों उसके मुख से दृष्टि हटाकर दीवार से परे आकाश की ओर देखने लगी और फिर आर्द्र स्वर में बोलीः

"मैं तो आप लोगों की दासी हूं,"

एक वेदना, एक कसक, नारी हृदय से निकल कर वातावरण में मुखरित हो उठी।

कुछ क्षण मौन के बीते।

दिया और वह ठहाका मार कर हंस पड़ा।

लेकिन लता हंसी में उसका साथ नहीं दे पायी क्योंकि वह नहीं जानती थी कि अनिल ने विद्रूप भाव से खरे के शब्द दोहराये हैं।

कुछ क्षण मौन के बीते और वे दोनों चुप बैठे एक-दूसरे की ओर देखते रहे।

सूरज डूब चुका था और कमरे के भीतर अंधेरा फैल रहा था।

"रग्घू।" अनिल ने यों चौक कर आवाज दी जैसे वह अंधेरे से परेशान हो।

"जी, सरकार।" रग्घू तुरन्त भीतर आया जैसे वह पहले ही से कमरे के बाहर बैठा आवाज का इंतजार कर रहा था।

"बत्ती जलाओ।" अनिल बोला।

रग्घू ने बत्ती जलादी और फिर हाथ बांधे सामने आ खड़ा हुआ।

"जाओ, ले आओ।" अनिल ने आंख से संकेत किया।

रग्घू लौट गया और आदेश पाते ही वह हमेशा इसी तरह लौट जाता था। मगर अनिल आज उसकी ओर देखते हुए अर्थपूर्ण ढंग से मुस्कराया।

"घर पर बसंते नाम का नौजवान नौकर है, वह मुझे "जी, साब" कहता है।" अनिल ने लता की ओर देखते हुए अपनी मुस्कान की व्याख्या शुरू की, "रग्घू बूढ़ा है, लेकिन मुझे उसके "जी, सरकार" में बसन्ते ही का स्वर सुनाई पड़ता है।"

अनिल जो बात कहना चाहता था, लता शायद उसे समझी नहीं या शायद समझ कर चुप हो रही क्योंकि उसने इस विषय में कुछ नहीं कहा और उसके चेहरे से भी किसी प्रकार की प्रति-

मुखौटे

"शायद यह किसी घाव का निशान है।" अनिल ने निगाह ऊपर उठा कर कहा।

लता ने भी उसकी ओर देखा और समझ लिया कि यह उसके प्रश्न का उत्तर नहीं बल्कि कलाकार ने अपने अनुमान की बात कही है।

"घाव का नहीं नासूर का निशान है।" वह बोली।

"नासूर का ?"

"हां, एक बार लोहे की पत्ती लगी थी।" लता ने भोले ढंग से मृदु स्वर में उत्तर दिया, "सिर्फ चोट थी, खून नहीं निकला था, इसलिए मैं भूल गई। पर कुछ दिन बाद यहां नासूर बनकर बहने लगा, जो आपरेशन के बाद भी मुश्किल से भरा।"

अनिल ने उसके हाथ को धीरे से कुर्सी के बाजू पर रख दिया और ऐस्ट्रे पर से सिगरेट उठा कर कश लगाना शुरू किया।

"कारण यह था।" लता ने तनिक रुक कर बात जारी रखी, "लोहे के जंग का कोई अंश त्वचा में रह गया और वह धीरे-धीरे नासूर बन गया।"

अनिल ने धुंआ छोड़ा और सिर हिलाते हुए कहा : जो जंग लोहे को खा जाता है वह मनुष्य के शरीर में नासूर अवश्य बनेगा।"

उसने ये शब्द इस अंदाज से कहे थे कि लता चौंकी और वह कुछ देर चुप बैठी उन्हें कमरे में ध्वनित-प्रतिध्वनित होते सुनती रही।

"आज आप कुछ उदास मालूम होते हैं।" उसने कलाकार के मुख की ओर देखते हुए कहा।

"नहीं, नहीं। मैं उदास नहीं गम्भीर हूं।" अनिल ने उत्तर

गीत सुनाती, वीणा बजाती और अगर अनिल चाहे तो अपने हाथ से पेग बनाकर देती रही। उसे किसी प्रकार का संकोच नहीं था। वह कई बार रात गये तक वहां ठहरती और अनिल को सुला-ओढ़ा कर और निश्चिन्त हो कर लौटती।

उसके व्यवहार में कुछ ऐसी उदार, शिष्ट और उत्कृष्ट सहजता थी जैसे वह अनिल को सदियों से जानती हो और दोनों में बहन-भाई का अथवा मित्र-मित्र का निर्लिप्त और निर्विकार सम्बन्ध स्थापित हो। लेकिन अनिल उसके इस व्यवहार से बहुत परेशान था। उसने महिलाओं और रमणियों के चित्र उतारे थे, मूर्तियां बनाई थीं और सर्वथा निर्विकार रहकर उन्हें विभिन्न कोण से देखा, परखा और सराहा था। मगर एक हाड़-मांस की जवान स्त्री के सम्पर्क में निर्विकार रहने का उसे कदाचित अभ्यास नहीं था। अतएव लता की उपस्थिति उसे विचलित कर देती। वह अपने मन और दृष्टि में खोट महसूस करता और इस खोट को अपने व्यक्तित्व का अपमान समझता था। वह एक उच्च कलाकार था और कलाकार के नाते हर तुच्छता और हीनता से ऊपर उठ जाने के लिए संघर्ष करता था। पर वह अपने आचरण में लता के व्यवहार की सहजता लाने में असमर्थ था।

इस सतत सम्पर्क में कितने ही नाजुक क्षण ऐसे आये कि अनिल का मन अत्यंत विचलित हो उठा। मगर नशे की हालत में भी उसने हमेशा अपने को सम्भाला और अपने आचरण में सहजता लाने का वह बराबर प्रयत्न करता रहा। वह मूर्ति का निर्माण करते समय छैनी पर हथौड़ी की चोट लगाते, हुए सस्वर कह उठता—मैं एक कलाकार से कलाकार के नाते एक मनुष्य से मनुष्य के नाते बात करूंगा।" सिल से जब नन्हे-नन्हे कण उड़ते

क्रिया व्यक्त नहीं हुई।

"मुझे क्या आज्ञा है?" उसने विषय बदल कर कहा, क्या आप गीत सुनेंगे?"

"गीत!"-उसने दोहराया और सूनी आंखों से लता की ओर देखा, "अच्छा वीणा बजाइये।" वह बोला, आज हम सिर्फ संगीत—मौन संगीत सुनेंगे।"

लता वाद्य सहित गाती थी बिना वाद्य के भी गाती थी और वीणा बजाने में निपुण थी। जब अनिल उसकी नन्ही-नन्ही अंगुलियों को कभी मंद और कभी द्रुत गति से तारों पर घूमते देखता तो यों महसूस होता कि संगीत का स्त्रोत वीणा के तार नहीं लता की अंगुलियां हैं। इसलिए वह कई बार गाना सुनने के बजाय वीणा सुनने की फरमाइश करता। लता वीणा बजाती और अनिल व्हिस्की का पेग बनाकर सामने रख लेता, उसे धीरे-धीरे सिप करता और संगीत सुनता रहता।

अनिल जब मथुरा में आया और उसे यह मकान रहने को मिला तो महन्त ने पहले ही दिन लता को बुला कर कहा था: "लता देवी, अनिल हमारे देश के बहुत बड़े कलाकार हैं। सौभाग्य की बात है कि आप को कुछ समय यहां रहना है। जब तक आप यहां हैं, आप की सुख-सुविधा और मनोरंजन का भार मैं तुम्हें सौंपता हूं। "ठीक है ना?"

"जी हां, ठीक है।" लता ने स्वीकृति प्रदान की थी और पलकें उठा कर अपनी बड़ी-बड़ी स्याह आंखों से यों अनिल की ओर देखा था कि अनिल को यह दृष्टि कभी नहीं भूलती थी और उसने अकसर इन आंखों में डूब जाने की तमन्ना की थी।

उस दिन के बाद लता अनिल के पास बराबर आती रही।

वीणा बजाती रही और अनिल पेग सिप करता, नन्ही-नन्ही अंगु-लियों को निहारता और संगीत सुनता रहा। अंतिम स्वर इतना सूक्ष्म और हृदय-स्पर्शी था कि लता अपने आप को भूल कर खुद संगीतमय हो गई। उसका यह रूप कितना आकर्षक था। अनिल हाथ में गिलास थामे उसकी ओर देखता रह गया। नारी के कोमल व्यक्तित्व में शालीनता और गौरव के समुचित सम्मिश्रण का नाम ही जैसे संगीत हो।

स्वर को पराकाष्ठा पर पहुँचा कर अंगुलियां स्थिर हो गईं; समय की गति भी रुक गई और एक सूक्ष्म लय आदि से अंत तक गूंज उठी।

लता ने वीणा फर्श पर रख दी, अनिल तब भी मूर्तिवत उसकी ओर देखता और रागिनी को प्रतिध्वनित होते सुनता रहा। वह इतना खोगया था कि देखने और सुनने का अंतर मिट चुका था।

वह जब दोबारा होश में आया तो, लता एक नया पेग अपने हाथ से बना कर उसे थमा रही थी। "पियो!" वह बोली।

अनिल पीता रहा और उसके बायें हाथ पर तिकोने निशान को धीरे-धीरे सहलाता रहा।

"मुझ से .. ...घृणा.......तो नहीं करतीं।" उसने सहसा लता के चेहरे पर आंखें गड़ा कर पूछा।

"नहीं।" लता ने तनिक रुक कर मुस्कराते हुए उत्तर दिया, "आप अपनी कला की तरह पवित्र हैं।"

तो वह भी अपने भीतर कुछ टूटता-झड़ता महसूस करता। संघर्ष जारी रहा और कण टूटते रहे। धीरे-धीरे उसका आचरण भी सहज चला बनता गया, जिसे अनिल और लता दोनों ने महसूस किया और परस्पर मानवीय सम्बन्ध दृढ़ होता रहा।

अब अनिल को विश्वास था कि उसका मन विकार और वासना से मुक्त है। लता की उपस्थिति उसे किसी तरह भी विचलित नहीं कर पायेगी। वह उसके हाथ की पुश्त पर तिकोने निशान को बहुत दिनों से देख रहा था। वह इसे छूना चाहता था, मगर छू न पाना विकार का प्रमाण था। आज उसने साहस जुटा कर इसे स्पर्श किया। व्यक्तित्व को नया नैतिक धरातल मिला और अनिल ने निशान को चूम लिया।

और जब उसने कहा—"आज हम सिर्फ संगीत मौन संगीत सुनेंगे"। तो यह इसी निर्विकार व्यक्तित्व का दृढ़ स्वर था।

बिजली के प्रकाश में उसने लता की ओर देखा और वह मुस्कराया।

लता ने भी अनिल की ओर देखा और वह भी मुस्कराई।

उसी समय रघू एक सुन्दर कश्मीरी ट्रे में पीने की सामग्री ले कर भीतर आया और उसे अनिल के निकट छोटी मेज पर रख दिया।

"हमारी वीणा भी ले आओ।" लता बोली।

रघू दूसरे कमरे से वीणा ले आया।

लता ने वीणा के तार ठीक किये और अनिल ने गिलास में व्हिस्की, बर्फ और सोडा डाल कर अपने लिए पेग तैयार किया।

बाहर रात का अंधेरा सघन हुआ और कमरे में संगीत का मधुर स्वर गूंज उठा। लता स्वर बदल-बदल कर घंटा-डेढ़ घंटा

गई थीं, इसलिए वह अप्रैल के आरम्भ में दिल्ली चली आई थी। महीना-सवा महीना भाभी के पास रही। जब नीरज और अरुण की छुट्टियां हुई तो वह बसंते समेत सब को अपने साथ ले बनारस गई। हेमला के पत्र के साथ बच्चों के भी पत्र आये थे। बनारस में वे सब खुश थे।

घर और बच्चों की याद अवश्य आती, पर अनिल का ध्यान मूर्ति में केंद्रित था। वह कभी उसके बारे में सोचता और कभी उसे बनाता था। चित्र में शिव और पार्वती सम्बन्धी जितनी बारीकियां थीं, वे सब उसके मस्तिष्क में अंकित थी। फिर अब तक जो कुछ पढ़ा और सोचा था, उससे शिव का भव्य रुप स्पष्ट तोर पर कल्पना में उभर आया था। वह अब सचमुच ही शिव की महानता और वैचित्र्य से प्रभावित था और इस महानता और वैचित्र्य को मूर्ति में परिणत कर रहा था। उसे मूर्ति बनाते बनाते याद हो आया कि शिव अपने सात्विक क्रोध में ब्रह्मा और विष्णु से भी श्रेष्ठ है। एक बार त्रस्त देवताओं की प्रार्थना पर उमा ने शिव को तप से चिताया और उन दोनों के ब्याह से युद्ध के देवता---सकंद का जन्म हुआ। सकंद ने तारक राक्षस की हत्या कर के देवताओं को भय से मुक्त किया।

"युद्ध अगर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ा जाय तो वह बुरा क्यों है?" अनिल ने सकंद के जन्म की कथा खरे को सुना कर पूछा।

"बुरा कहां वह तो कल्याणकारी है।" खरे ने भवें सिकोड़ कर कहा, देखते नहीं हो, युद्ध का जन्म देवताओं की प्रार्थना पर शिव के सात्विक क्रोध से हुआ है।"

और वह मुस्कराया।

चौदह

दिन पर दिन वीत रहे थे। मार्च के वाद अप्रैल आया और चला गया। अव मई गुजर रहा था। अनार के पेड़ पर जो फूल खिले थे, उनमें से कुछ झड़ गये थे और जो वाकी वचे, वे फल वन गये थे। इस वीच में मादा गौरेया ने अंडे दिये और वच्चे भी निकल आये। नर और मादा दोनों ही संतान के लालन-पालन में व्यस्त थे। जाने कहां-कहां से चोगा लाकर देते थे। नर उड़ जाता था तो मादा घोंसले में रहती और जव मादा चोगा लेने जाती तो नर वच्चों की देख-भाल करता था। अजीव वात थी कि छोटा सा घोंसला, वच्चों के साथ नर और मादा भी रात उसी में विताते। वच्चे वड़े हुए, पंख निकले और इधर-उधर उड़ने भी लगे, पर कभी भी ऐसा नहीं हुआ कि घोंसले से नीचे गिर पड़े। अनिल यह सव देखता तो उसे अपने घर और वच्चों की याद आती और दिल में कसक-सी उठती।

कभी अर्चना और कभी हेमला का खत आता और उससे सव हाल मालूम हो जाता। अर्चना के स्कूल में परीक्षाएं जल्दी हो

गई थीं, इसलिए वह अप्रैल के आरम्भ में दिल्ली चली आई थी। महीना-सवा महीना भाभी के पास रही। जब नीरज और अरुण की छुट्टियां हुई तो वह बसंते समेत सब को अपने साथ ले बनारस गई। हेमला के पत्र के साथ बच्चों के भी पत्र आये थे। बनारस में वे सब खुश थे।

घर और बच्चों की याद अवश्य आती, पर अनिल का ध्यान मूर्ति में केंद्रित था। वह कभी उसके बारे में सोचता और कभी उसे बनाता था। चित्र में शिव और पार्वती सम्बन्धी जितनी बारीकियां थीं, वे सब उसके मस्तिष्क में अंकित थी। फिर अब तक जो कुछ पढ़ा और सोचा था, उससे शिव का भव्य रूप स्पष्ट तोर पर कल्पना में उभर आया था। वह अब सचमुच ही शिव की महानता और वैचित्र्य से प्रभावित था और इस महानता और वैचित्र्य को मूर्ति में परिणत कर रहा था। उसे मूर्ति बनाते बनाते याद हो आया कि शिव अपने सात्विक क्रोध में ब्रह्मा और विष्णु से भी श्रेष्ठ है। एक बार त्रस्त देवताओं की प्रार्थना पर उमा ने शिव को तप से चिताया और उन दोनों के ब्याह से युद्ध के देवता---सकंद का जन्म हुआ। सकंद ने तारक राक्षस की हत्या कर के देवताओं को भय से मुक्त किया।

"युद्ध अगर अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लड़ा जाय तो वह बुरा क्यों है?" अनिल ने सकंद के जन्म की कथा खरे को सुना कर पूछा।

"बुरा कहां वह तो कल्याणकारी है।" खरे ने भवें सिकोड़ कर कहा, देखते नहीं हो, युद्ध का जन्म देवताओं की प्रार्थना पर शिव के सात्विक क्रोध से हुआ है।"

और वह मुस्कराया।

"कैसी अनुपम कल्पना है । सकंद जैसे प्राक्रमी और दृढ़-प्रतिज्ञ वीर को हिमालय की बेटी उमा ही जन्म दे सकती थी।" 'सकंद' और 'उमा' का नाम लेते ही कलाकार की आंखें चमक उठीं, जैसे उसके मन में सात्विक क्रोध की भावना उमड़ आई हो।

उधर हमारे शास्त्रकारों की यह कल्पना है और इधर हम अहिंसा-अहिंसा टर्रा कर मेंढक बन गये हैं।" खरे ने अनिल की आंखों में झांकते हुए कहा।

इसी समय रघू भीतर आया और एक विजिटिंग कार्ड आगे बढ़ा कर कहा——"कोई बाबूजी मिलना चाहते हैं।"

कार्ड खरे ने देखा और तुरंत उठ कर कहा : "तुम उन्हें साथ क्यों नहीं लाये ?"

वह रघू को वहीं खड़ा छोड़ बाहर गया और दो मिनट बाद मोंगा की बांह डाले वापस आया।

अनिल उसे देखते ही लपका और तपाक से गले मिला।

वे तीनों हाल कमरे से बैठक में आये। अनिल और मोंगा को सोफे पर बिठा कर खरे ने अपने लिए कुर्सी खींच ली और सामने बैठ गया।

"अब सुनाओ, क्या हाल है ?"

"सब ठीक है !"

"बहुत दिनों बाद आये ?"

"और क्या, हम तो सोचते रहे कि तुम दिल्ली आओगे।"

"बच्चे भी बनारस में हैं। मैं दिल्ली आकर क्या करता ?"

मोंगा ने घूर कर अनिल की ओर देखा।

"इसका मतलब है कि तुम हमें तो याद ही नहीं करते।" उसने तुनक कर कहा।

"नहीं ऐसी बात नहीं। अनिल ने प्रतिवाद किया और खरे से कहा, "जरा इन्हें बताना।"

"मै यही कहने वाला था।" खरे तनिक आगे झुक कर बोला, "कि तुम्हारी उम्र बहुत बड़ी है और तुम बूढ़े हो कर मरोगे क्यों थोड़ी देर पहले हम तुम्हें ही याद कर रहे थे।"

"सच!" मोंगा के सुनहरी दांत चमक उठे।

"हां।"

"किस सिलसिले में ?"

"सिलसिले मत पूछो। आखिर हम तुम्हारे मित्र हैं।" अनिल बोला।

खरे ने कह कहा लगाया और मोंगा सकुचा गया। 'मित्र' शब्द को उसने दलाल-वृत्ति पर व्यंग समझा।

रघू चाय ले आया। उसे मोंगा के आने से पहले ही चाय बनाने का आदेश मिल चुका था। इसलिए देर नहीं लगी। चाय के अलावा प्लेटों में दालसेव और बिस्कुट भी थे।

खरे ने चाय बनाते हुए पूछा, "कब तक का प्रोग्राम है ?"

"कोई प्रोग्राम नहीं। जितने दिन कहो ठहर सकता हूं।" उसने बेपरवाई से उतर दिया और फिर कहा, "मैं चाहता हूं कि हम तीनों एक दिन आगरा चलें। रात को चांदनी में ताजमहल देखें और अगले दिन फतहपुर देखकर लौट आयें। क्यों, क्या खयाल है?'

"ख्याल तो अच्छा है। मुझे कोई आपत्ति नहीं।" खरे ने गर्दन हिलाकर समर्थन किया।

"पर मुझे आपत्ति है। मैं नहीं जा सकूंगा।" अनिल बोला।

"क्यों ?" मोंगा को आश्चर्य हुआ।

"महन्त का बंदी हूं।" अनिल ने संक्षेप में उत्तर दिया।

"वाह् वंदी साहब। वंदियों के यह ठाठ होते हैं।" मोंगा ने फर्श पर बिछे कालीन और कमरे की सजावट की ओर संकेत किया।

"तुमने मुझे गिरवी रख दिया। और अब मजाक उड़ा रहे हो।" अनिल ने मुस्कराते हुए उलाहना दिया।

मोंगा बात को फिर हंसी में उडाना चाहता था। पर खरे अनिल की मन:स्थिति को समझ गया।

"अगर बन्दी को स्वामी से आज्ञा मिल जाय?" उसने कहा।

"आज्ञा लेने की वन्दी के मन में इच्छा ही नहीं हैं।"

खरे ने चाय के प्याले दोनों को दिये और अपने प्याले से एक घूंट भर कर वह वाहर की ओर देखने लगा। कोई छः बजे का वक्त था, पर मई की धूप आंखों में चुभ रही थी।

"तो यह तय है कि तुम नहीं जाओगे?"

"नहीं।" अनिल ने सिर हिलाया।

"तुम नहीं जाओगे तो मैं भी नहीं जाऊंगा।" मोंगा ने छाती फुलाकर घोषणा की।

इस सिलसिले में फिर किसी ने कुछ नहीं कहा। और भी कोई बात नहीं हुई, चुपचाप चाय पी और तीनों ने सिगरेट जलाये।

"यह वताओ दिल्ली का क्या हाल है?" खरे ने मोंगा की ओर देख कर विषय वदला।

"दिल्ली पहले की तरह आवाद है और खूब चहलपहल है।" मोंगा ने उत्तर दिया।

"सेठ वशेशर के साथ महफिल जमती है।"

"हां, उसी नौशाद होटल में।"

"वह अपनी अंट-शंट कविताएं सुनाते हैं और तुम दाद देते हो।"

"दाद से किसी का जी खुश हो जाय तो हमारा क्या हर्ज है।" मोंगा ने बत्तीसी दिखाई।

"वैसे आदमी दिलचस्प है।" खरे ने सिर हिलाकर कहा।

"तुम भी उसे जानते हो?" अनिल ने पूछा।

"अब के मैं मद्रास से लौटते समय दिल्ली में रुका तो भेंट हुई।" खरे ने बताया।

"कविताएं भी सुनी होंगी?"

"हां, मुजतर उपनाम रख छोड़ा है। मुजतर का अर्थ विकलता है, मगर विकलता इस शख्स को छू तक नहीं गई। गाल कचौरी की तरह फूले हुए है।" खरे ने मुस्कराते हुए कहा और बात जारी रखी, "लेकिन जब वे दिल्ली की जबान और पुरानी सभ्यता की बातें सुनाकर गर्व से गालें फुलाते हैं तो बस मजा आ जाता है।"

"लेकिन मैं तो बोर हो जाता हूं।" मोंगा ने मुंह बनाकर कहा।

"वह तो शायद इसलिए कि तुम बार-बार वही बातें सुनते होगे।"

"यह भी हो सकता है।"

"वैसे हर आदमी किसी न किसी चीज पर गर्व जरूर करता है।" अनिल ने विद्रूप भाव से मुस्कराते हुए कहा।

"वह तो है जैसे मोंगा अपने सुनहरी दांतो पर।"

सबसे पहले मोंगा खिलखिला कर हंसा और फिर तीनों का सम्मिलत ठहाका कमरे में गूंज उठा।

कुछ देर इसी तरह की बातचीत औरदिल्लगी होती रही। सूरज ने कोण बदल लिया था और खिड़की में से आने वाली अंतिम किरनें अब खरे के मुंह पर पड़ रही थीं।

"यहां "बैठे-बैठे ऊब जायेंगे! चलो, थोड़ा घूम आयें।"

"मुझे कोई आपत्ती नहीं।" मोंगा ने स्वर बदल कर नाटकीय ढंग से कहा, "पर इनसे पूछ लो।"

वंदी साहब, घाट तक जाने में तो आप को भी कोई आपत्ति नहीं होगी?" खरे ने अनिल से कहा।

"चलिए, मैं भी चलता हूं।"

वे तीनों बाहर आये अनिल ने रघू को बुलाकर कहा, "हम घंटे डेढ़ घंटे में लौटेंगे। लता देवी आयें तो उनसे कह देना।"

"का कहूं सरकार?"

"यही कि हम थोड़ी देर में लौटेंगे।" खरे ने बात खत्म करने के लिए कहा और चल पड़ा।

"तुम उन्हें कहना," अनिल वहीं खड़े खड़े सोच कर बोला "हमारे मेहमान आये हैं। वे चाहे तो रुकें और चाहें तो लौट जायें। समझे?"

"जी, सरकार।"

शाम हो चली थी और घाट पर खूब चहल-पहल थी, गर्मी का मौसम था, इसलिए कुछ लोग इस समय भी स्नान कर रहे थे और बहुत से यों ही घाट पर बैठे नदी से आने वाली ठंडी हवा का आनंद ले रहे थे। तिलक लगाये और लाल अंगोछे कंधों पर रखे पंडे भी इधर-उधर घूम रहे थे।

अनिल, मोंगा और खरे सीढ़ियों के नज़दीक एक स्थान पर जा खड़े हुए और नदी का दृश्य देखने लगे। दूर जहां डूबते हुए

सूरज की किरनें जमुना में प्रतिबिम्बित हो रही थीं वहां पानी का रंग रक्तिम था और हवा से तरंगित जल बहुत ही भला मालूम हो रहा था।

घाट पर बड़ी-बड़ी छकड़ों जैसी नावें खड़ी थीं, जिनमें देहाती यात्रियों को नदी के उस पार पहुँचाया जाता था। और शहर के बाबू लोग इन्हीं नावों में बैठ कर यों ही नदी की सैर भी करते थे। इस समय भी कई नावें इधर-उधर चलती दिखाई दे रही थीं। उनमें प्राय: वही लोग बैठे थे, जो घर से मनोरंजन के लिए आये थे।

"क्यों न हम भी एक नाव ले लें।" मोंगा ने प्रस्ताव रखा।

"यह ठीक है। यहां कब तक खड़े रहेंगे।" अनिल ने समर्थन किया।

खरे ने एक मांझी को संकेत किया तो वह चट नांव खींच कर घाट की दीवार के निकट ले आया ताकि वे आसानी से उसमें बैठ सकें।

नाव के खींचने से घाट की सीढ़ियों पर पड़े कछुवे भी हरकत में आये और पानी में छपल-छपल हुई।

"इतने बड़े कछुवे तो मैंने पहले कभी नहीं देखे।" मोंगा ने आश्चर्य से उनकी ओर ताकते हुए कहा, "ये तो खूब पले हुए है।"

"जिसे सहज में खाने को मिले और अच्छा मिले वह इसी तरह पल जाता है।" खरे ने व्यंग किया और वे तीनों नाव में जा बैठे।

"वह देखो, कैसे मुंह फैला रहा है।" मोंगा ने एक कछुवे की ओर संकेत किया।

"डरो मत। तुम्हें कुछ नहीं कहेगा।" अनिल ने उसके कंधे पर हाथ रख कर कहा।

मांझी ने चप्पू सम्भाले और नाव चल पड़ी

"पानी में वे कछुवे हैं और बाहर पंडे। वैसे गर्दन सिकोड़े पड़े रहते हैं, पर जब खाने की चीज सामने आती है तो झट लपकते हैं।" खरे ने परिहास में कहा।

"जल में कछुवे और बाहर पंडे। यह तुमने ठीक कहा।" अनिल ने खरे की बात दोहराई।

"मैं कुछ और समझता हूं।" मोंगा ने अर्थपूर्ण ढंग से गर्दन हिला कर कहा।

"बाबूजी आप पढ़े लिखे हैं और मै एक अनपढ़ आदमी हूँ। बुरा न मानें तो एक बात कहूँ।" मांझी बोला।

"हां, कहो कहो।" खरे ने उसे बढ़ावा दिया।

"ये कछुवे जमुना मैया के जीव हैं। इनकी निंदा करने से पाप लगता है।"

"सुना तो मैंने भी है कि जो धर्मात्मा प्राणी कुसंगति में पड़ कर दुष्ट बन जाते हैं, वे मरकर कछुवे की जूनी धारण करते हैं। इंद्रियां सिकोड़े सारा जीवन तप और संयम से बिताते हैं और पूर्वजन्म के पाप जमुना के पानी से धुल जाते हैं। फिर इस जुनी से छूटते ही वे सीधे स्वर्ग में चले जाते हैं। क्यों मांझी ठीक है ना ?" खरे बोला।

"बाबूजी आप लोग विद्वान हैं। मैं क्या बताऊं, मैंने तो जो सुना था कह दिया।" मांझी ने चप्पू चलाते हुए उत्तर दिया।

"तुमने अपना फ़ल सफा बघार दिया और मेरी बात बीच ही में रह गई।" मोंगा ने शिकायत की।

"चलो, तुम भी बघारो।" खरे बोला।

"मैं समझता हूँ कि हर एक पंडा मरने के बाद कछुवा और

कछुवा पंडा बनता है। दोनों को जमुना और जमुना के घाट से इतना प्रेम है कि वे आपस में इसी प्रकार जूनी बदलते रहते हैं।"

"सूझ यह भी अच्छी है।" खरे ने मित्र को थपकी दी।

मोंगा का चेहरा खिल उठा और उसने खीस दिखाई।

वे घाट से काफी दूर निकल आये थे। अनिल का ध्यान बातों में नहीं था। वह सूर्यास्त का दृश्य देख रहा था और उसे अर्चना और हेमला के साथ गंगा में नाव चलाने के दिन याद आ रहे थे।

"देखो, देखो! सामने का दृश्य देखो!" उसने आनन्दविभोर हो कर खरे और मोंगा से कहा।

उन दोनों ने भी कलाकार की दृष्टि का अनुसरण किया। दृश्य सचमुच आकर्षक था। जमुना की चमचमाती धारा आकाश से उतरती हुई जान पड़ती थी और चारों ओर व्याप्त लालिमा कल्याणमयी रात्रि का स्वागत कर रही थी।

"और इधर देखो, बादल ताजमहल बन गया।" अनिल ने ऊपर की ओर संकेत किया, "यों लगता है कि जैसे यह नीला आकाश कैन्वस हो और उस पर किसी निपुण चित्रकार ने इसे उरेहा हो।"

अनिल आकाश की ओर देख रहा था जब कि खरे और मोंगा की दृष्टि उसके मुख पर केन्द्रित थी।

पंद्रह

साधारण असाधारण में तिल भर का अंतर है। दोनों को एक क्षीण रेखा विभाजित करती है। असाधारण व्यक्ति सामान्य रहन-सहन में साधारण होते है और साधारण व्यक्ति किसी विशेष परिस्थिति में असाधारण चलन का परिचय देते हैं। साधारण और असाधरण बातें दोनों से अपेक्षित हैं। मगर स्वभाव से दोनों अलग-अलग पहचाने जाते हैं और एक ही घटना की प्रतिक्रिया दोनों पर अलग-अलग होतीं है। अनिल, खरे और मोंगा घर लौटे तो सामान्य रूप से तीनों प्रसन्न थे। मगर इस प्रसन्नता की गुण-मात्रा का आधार वह प्रभाव था जो उन्होंने घाट की सैर और प्राकृतिक दृश्य से ग्रहण किया था। यह निश्चित रूप से तीनों के स्वभाव के अनुरूप अलग-अलग था।

लौट कर आये तो दिन छिप चुका था और अंधेरा धरती पर उतर आया था। कमरे में बिजली जल रही थी और लता किताब पढ़ने में इतनी खो गई थी कि उसे कलाकार के भीतर आने का भी पता नहीं चला। "ओह, आप तो बड़ी व्यस्त हैं" अनिल ने

उसके निकट आ कर कहा ।

"शिव और पार्वती के प्रणय का हाल पढ़ रही हूँ ।" लता ने पुस्तक से निगाह ऊपर उठाई ।

"बहुत दिलचस्प है ।"

"इसमें क्या संदेह है ।"

"आप से मिलिए । आप हैं हमारे मित्र गवर्नदास मोंगा ।"

खरे और मोंगा तनिक पीछे रह गये थे । शायद खरे से बात कर रहे थे । उनके भीतर आने पर अनिल ने परिचय कराया ।

"बहुत खुशी हुई आप से मिलकर । मुझे लता कहते हैं ।" लता ने हाथ जोड़े और आगे कहा, 'मैंने आपको शायद पहले भी देखा है ।"

"जरूर देखा होगा । मैं यहां तीसरी-चौथी बार आया हूं ।" मोंगा ने उत्तर दिया ।

"आप आज आराम भी कर सकती हैं ? क्योंकि मैं अकेला नहीं हूँ ।" अनिल बोला ।

"पर मेरा भी तो अकेले मन नहीं लगता ।"

लता के मधुर स्वर में एक कसक थी और आंखों में उदासी थी ।

अनिल और खरे ने चौंक कर एक दूसरे की ओर यों देखा जैसे कह रहे हों—"यहां हर व्यक्ति दुखी है हर व्यक्ति के भीतर एक घाव है ।"

लता इस बीच में बीमार हो गई थी और वह इधर नहीं आई थी । अभी दो-तीन दिन से फिर आना शुरू किया था । अनिल ने इसी खयाल से आराम करने की बात कही थी । वैसे जब खरे का साथ होता वह एक-दो गाने सुना कर लौट जाती

ओर वे दोनों बैठे पीते रहते थे।

"आज हमें गिरधर की रंगराती सुना दो।" अनिल ने लता से कहा और फिर खरे की ओर पलट कर बोला, "मुझे यह गाना बहुत ही पसंद है"

बड़ी मेज खाली कर के बीच में सरका ली गई। रग्घू पीने की सामग्री लेकर आया और रख कर बाहर चला गया। तीनों मित्र कुर्सियां लगाकर बैठ गये और लता ने स्वर साध कर गाना शुरू किया :

मैं गिरधर की रंगराती।
पचरंग चोला पहन सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
मोहि झिरमिट में मिलयो साँवरा, खोल मिली तन गाती।
जिनका पिया परदेश बसत है लिख-लिख भेजें पाती।
मैं गिरधर की रंगराती।

गीत की लय वातावरण में गूंज रही थी। अनिल, खरे और मोंगा धीरे-धीरे व्हिस्की सिप कर रहे थे और सुन रहे थे। लता ने "मैं गिरधर की रंगराती" लहक-लहक कर दोहराया तो समय बंध गया।

"ब्रह्मा राग है, सरस्वती रागिनी।" खरे झूमते हुए बोला, "पांच स्वर महादेव ने बनाये हैं खरज और पंचम पार्वती ने। क्यों ठीक है ना कलाकार ?"

"तुम मुझ से पूछ रहे हो या उनसे ?" अनिल ने पहले अपनी ओर फिर लता की ओर संकेत किया।

"दोनों से।" खरे ने उत्तर दिया और वह लता की ओर देखते हुए खिलखिला कर हंस पड़ा, "आप भी कलाकार है यह तो मुझे आज ही मालूम हुआ।"

"आदाब अर्ज।" लता ने हाथ हिलाते हुए कहा।

मोंगा फटी-फटी आखों से उसकी ओर देखता रह गया।

',खूब ? महफिल तो आज जमी है। इसी बात पर एक गाना और हो जाय।" उसने मेज पर हाथ पटक कर कहा और प्याज की एक फांक उठा कर मुंह में रख ली।

"क्या ख्याल है ?" खरे ने लता से पूछा

"क्या खयाल को बात नहीं। आप के मित्र की फरमायश तो पूरी होगी।"

"फरमायश आप जरूर पूरी करेंगी, यह हम जानते हैं।" अनिल दोनों हाथ गिलास पर रखे-रखे बोला, "पर हमें यह भी चिंता है कि आप अगर फिर बीमार पड़ गई तो हमें इस मधुर आवाज से जाने कितने दिन के लिए वंचित रहना पड़ेगा।"

"बेहतर यही है कि अब आप आराम करें।" खरे ने घड़ी पर नज़र डाल कर कहा।

"पर आप के मित्र तो यह नहीं चाहते कि मैं जाऊं।" लता ने आंखें पूरी खोल कर मोंगा की ओर देखा।

"वाह क्या मै इतना ही बेदर्द हूं कि आप के आराम में दखल दूं।" मोंगा ने कहा और वह खिलखिला कर हंस पड़ा।

लता ने अनिल की ओर देखा। वह उसी तरह गिलास पर दोनों हाथ रखे बैठा था मुंह से वह कुछ नहीं बोला, पर आंख से तनिक-सा संकेत किया और लता जाने के लिए उठी।

अनिल को उसके स्वास्थ्य का ही नहीं यह भी खयाल था कि वे तीनों मित्र इतने दिनों बाद इकट्ठे हुए हैं। थोड़ी ही देर में बहक जायेंगे और मन की भड़ास निकालेंगे, इसलिए लता का चले जाना ही उचित था। वह अकेला हो तो दूसरी बात है वरना

जब वह खरे के साथ पीता था तब भी लता से रुकने का आग्रह नहीं करता था ।

"यह है कौन ?"

लता चली गई तो मोंगा ने दरवाजे की ओर झांकते हुए पूछा। "अजीब आदमी हो" खरे बोला, तुम्हें उसका नाम बता दिया और गाना सुनवा दिया । फिर भी पूछ रहे हो कि वह है कौन ?"

"इतना ही तो काफी नहीं ।" मोंगा एक लम्बा घूंट भर कर बोला, "मैं यह जानता हूं कि उसका आगा-पीछा क्या है और महन्त से और आप लोगों से उसका सम्बंध क्या है ?"

"प्यारे, हमारा सम्बंध यही है कि कभी-कभी गाना सुन लेते हैं ।" खरे ने खाली गिलासों मे व्हिस्की डालते हुए कहा, इससे अधिक हमें कुछ मालूम नहीं ।"

"मालूम नहीं तो उसी से पूछ लिया होता ।"

खरे ने एक नजर अनिल की ओर देखा और फिर मोंगा की ओर पलट कर उत्तर दिया ।

पूछ तो लेते पर सच्ची बात यह है कि पूछने की कभी हिम्मत नहीं हुई ।"

अनिल ने एक घूंट भरा और दो-तीन बार सिर हिलाया ।

"ठीक कहते हो । इस औरत को बाहर से चाहे जितना देख लो, पर भीतर झांकने की हिम्मत नहीं होती ।"

खरे ने उन दोनों के गिलासों में भी व्हिस्की, सोडा और बर्फ डाली और रघू को आवाज दी ।

"जी सरकार ।" वह तुरंत भीतर आया ।

"एक व्हिस्की और लाओ ।"

वह आदेश सुन कर चुपचाप लौटा और खरे ने फिर कहा ······ ····सोडा और बर्फ भी समझे।"

"जी, सरकार।" उसने दरवाजे पर रुक कर उत्तर दिया।

खरे ने अपना गिलास उठा कर अनिल के गिलास से टकराया और फिर उसकी आंखों में झांकते हुए लड़खड़ाते स्वर में कहा : कलाकार ! मनु··········ष्यों के भीतर झांकना भी ए··········क कला ·········है। क्ष··· ··मा करना तुम शायद उस कला से वा ···· किफ न···· ····हों········ हो।"

"मै खूब वाकिफ हूँ।" अनिल ने स्थिर और दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "और इसका, प्रमाण यह है कि मैंने तुम्हारी इन मुस्कराहटों की तह में रिस्ते हुए घावों को देख लिया है।"

"देख लिया है ?"

"हां, देख ही नहीं लिया, समझ और पहचान भी लिया है।"

इसके बाद वे कुछ देर धीरे-धीरे व्हिस्की सिप करते और रह-रह कर एक दूसरे की ओर देखते रहे।

"हर एक आदमी के भीतर एक और जीवन होता है" खरे अपने आपको संयत करके और गर्दन उठाकर बोला, "जब उस जीवन को आघात पहूँचता है तो अत्मा चीख उठती है।"

खरे के शब्दों में एक गहरी कसक और एक असहाय पीड़ा रात की निस्तब्धता में घायल पक्षी की चीख के सदृश दूर तक गूंज उठी।

आत्मा !" मोंगा ने कहा और वह विद्रूप भाव से खिल-खिला कर हंस पड़ा। पर असल वह उनकी बातें सुनते सुनते चुप बैठा ऊब गया था। अब बात को अपनी डगर पर लाकर बोला ;

"बेटा, मंसूरी के दिन याद है। तब तुम बड़े क्रान्तिकारी

बनते थे। आत्मा-वात्मा कुछ नहीं मानते थे। शायद यह मंदिर के माहौल का असर है कि फिर आत्मवादी बन गये हो।"

"खरे ने मोंगा की ओर देखा और महसूस किया कि यह मोंगा नहीं, उसके भीतर जो एक और जीवन है, जो अब मृत प्राय है, वह बोल रहा है।

"दोस्त !" उसने आंखें झपका कर कहा, "मैं न पहले कुछ था और न अब कुछ हूं। मै न भौतिकवादी हूं और न आत्मवादी। मेरा न कोई अस्तित्व है, न कोई दर्शन है। मैं……मै एक कटी हुई पतंग हूँ, जो हवा के झोकों पर डोलती-फिरती है।"

"लेकिन खरे" मोंगा ने एक क्षण रूक कर और तनिक गम्भीर होकर कहा, "मैं तो समझता था कि तुम यहां बहुत सुखी हो।"

"सुखी।" खरे विद्रूप भाव से मुस्कराया और हवा में हाथ हिलते हुए बोला "कलाकार सुन रहे हो मैं बहुत सुखी हूं। तुम भी सुखी हो। और लता भी सुखी है। महन्त योगेश्वर गिरी का धन बहुतों को सुख पहूँचा रहा है। हा हा हा।"

"मैं तो महन्त का बहुत कृतज्ञ हूं।" अनिल ने आहिस्ता-आहिस्ता सिर हिलाते हुए कहा। उनकी आंखें नशे से चमक उठी थीं।

"जे भी कृतज्ञ हूँ, मैं भी खुतज्ञ हूं।" खरे ने गर्दन उठा कर चित्रकार की ओर देखा, "तुम सिर्फ गिरवी हो, मुझे उन्होंने स्थाई रुप से खरीद रखा है।"

दोनों ने एक दूसरे की ओर देखा और फिर अपने-अपने गिलास से एक लम्बा घूंट भरा।

"और हमें कोई नहीं खरीदता।" मोंगा बोला।

खरे उसकी ओर देख कर हंसने लगा।

"तुमने अभी थोड़ी पी है।" उसने मोंगा के गिलास में शराब डालते हुए कहा, "लो, और पिओ। खूब पियो ताकि यह एहसास भी न रहे कि तुम्हें कोई नहीं खरीदता।"

सोडा और बर्फ मिलाकर गिलास मोंगा की ओर बढ़ा दिया। मोंगा ने गिलास लेकर होंठों से लगाया और वह एक ही सांस में गट-गट पी गया। "अब खुश हो।" उसने खाली गिलास मेज पर रखते हुए कहा।

"और दूं ?"

"हां।" मोंगा ने सिर हिलाया और कहा, "तुम भी तो लो।"

खरे ने फिर तीनों पेग बनाये लेकिन मोंगा के गिलास में शराब की मात्रा दूसरे दो से अधिक थी।

कुछ देर तीनों चुपचाप पीते रहे। खरे ने टमाटर की एक फांक मुंह में रखी और चबाते हुए अर्थपूर्ण ढंग से मोंगा की ओर देखा।

"जब पीना-खाना मनुष्य के जीवन का उद्देश्य हो सकता है तो पुस्तकें पढ़ना भी हो सकता है।" उसने स्थिर स्वर में कहा, "मेरे पास पुस्तकें हैं और पढ़ने के लिए फुरसत भी। मोंगा शायद इसलिए समझता है कि मैं यहां बहुत सुखी हूं। क्यों तुम इसी को सुख समझते हो न ?"

"मगर तुम सुखी नहीं हो तो आओ अपना जीवन मेरे साथ बदल लो।" मोंगा ने व्यर्थ तर्क में उलझने के बजाय चुनौती दी

"हा, हा, हा।" इस बार अनिल खूब जोर से हंसा।

खरे ने हल्का-सा घूंट भरा और वह अर्थपूर्ण ढंग से मुस्क-

राया ।

मोंगा ने एक क्षण के लिए अनिल की ओर देखा और फिर अपना गिलास उठाकर होठों से लगाया और गटागट पी गया ।

"क्यों सौदा मन्जूर नहीं ?" वह गिलास रखकर खरे से मुखातिब हुआ ।

"लो, यह और पियो ।" खरे ने अपने गिलास में से आधी से ज्यादा उसके गिलास में ऊंडेल दी

"बोतल में भी तो है ?" मोंगा ने अंगुली से संकेत किया ।

"है । बहुत है । जितनी चाहो डाल लो ।"

मोंगा ने बोतल से व्हिस्की गिलास में उंडेली और उसका गढ़ा रंग देख कर कहा, "अब ठीक है ।"

"खरे कितना चालाक है । तुम्हारे सवाल का जवाब नहीं दिया ।" अनिल बोला ।

"जवाब क्यों देगा ? नुकसान का सौदा कौन करता है ?" मोंगा ने खरे के मुख पर आंखें गड़ा कर कहा ।

"सुनो दोस्त !" खरे उसके कंधे पर हाथ रखकर बोला, हमारे पास ऐसी कोई चीज नहीं है जिसकी अदला-बदला हो सके । मंसूरी के सहवास की याद दिलाई इसके लिए तुम्हारा धन्यवाद । उन दिनों बिना पिये ही नशा रहता था । काश ! सुन्दर भविष्य के वे सपने मुझे कोई वापस दे दे । सिर्फ हमारी-तुम्हारी बात नहीं जाने कितने नौजवानों ने वे सपने देखे थे और कितने कवियों ने धरती को स्वर्ग बनाने के गीत गाये थे । इधर-उधर चारो ओर एक महान क्रान्ति की चाप सुनाई देती थी । अब न वे सपने हैं और न वह चाप सुनाई देती है । हम तुम उस कारवां के राही हैं जो मंजिल से भटक गया है ... ."

खरे यकायक चुप हो गया और अपने गिलास में से चुस्क-चुस्क कर पीने लगा। अनिल बड़े ध्यान से उनकी ओर देख रहा था।

"अब बताओ तुम मूझसे किस सवाल का जवाब चाहते हो और क्या बदल लेने को कहते हो?" उसने कोहनियां मेज पर टेक कर और तनिक आगे को झुक कर मोंगा से पूछा।

"खाओ-पिओ ऐश करो!" मोंगा ने झूमते हुए उत्तर दिया और अपना गिलास खाली करके फिर बोला, "तुम महामूर्ख हो जो बेकार दर्शन बघारते हो।"

उसने अब बहुत पी ली थी और नशा गहरा हो गया था।

"यह खाओ-पीओ भी एक दर्शन है—आदर्श हीनता का दर्शन।"

मोंगा ने एक नजर खरे की ओर देखा, पर कुछ उत्तर नहीं दिया। नशे ने उसकी जबान बन्द कर दी थी।

"तुम ठीक कहते हो बिलकुल ठीक कहते हो खरे।" अनिल ने सिर हिलाते हुए हौले-हौले धीमे स्वर में कहा, "हमारे युग की ट्रेजिडी ही यह है कि हमने आदर्श हीनता को दर्शन बना लिया है।

"वे क्षण कितने भयंकर होते हैं कलाकार। जब आदमी को यह महसूस हो कि उसे सपने देखने का भी अधिकार नहीं है।" खरे ने हथेली पर सिर रखे-रखे कहा।

"तुम और लोगे?" अनिल ने बोतल की ओर संकेत किया।

"हां, यह आखिरी पेग बना लो और मुझे एक सिगरेट भी दो।"

"मैं समझता हूं।" अनिल ने पेग बनाते हुए शांत भाव से कहा, "तुमने जो राजनीति में खोया है, हमने वही कला में खोया

है। मैं कई बार महसूस करता हूं कि हम जिन रूढ़ियों को झटक कर आगे बढ़े थे वही अब हमारा रास्ता रोके सामने खड़ी है।"

"रास्ता कहां है?" मोंगा ने एक दम कुर्सी से उठकर कहा। "कैसा रास्ता?"

"मैं बाथरूम जाऊंगा।"

अनिल ने रग्घू को बुलाया और कहा—"साहब को बाथरूम ले जाओ।"

"यह अखिरी पेग तो पी लो।" खरे ने गिलास उसकी ओर बढ़ाया। मोंगा ने उसे एक ही घूंट में हल्के से उतारा और वह रग्घू के साथ चल पड़ा।

"यह आखिरी पेग उन सपनों के नाम जिन्हें हम साकार न बना सके।" खरे ने अपना गिलास अनिल की ओर बढ़ा कर कहा।

"नहीं, शिव के बेटे सकंद के नाम।"

"ठीक, बिलकुल ठीक। सकंद के नाम; जो सात्विक क्रोध का कल्याणकारी युद्ध का प्रतीक है।"

"खरे", अनिल ने अपना गिलास उसके गिलास के साथ स्पर्श करते हुए कहा; "मैं एक कलाकार हूँ मेरी यह बात नोट कर लो। सपने आखिर साकार हो कर रहेंगे। सपने कभी नहीं मरते।"

वे घूंट-घूंट पीते रहे और कलाकार के यह शब्द ध्वनित-प्रतिध्वनित होते रहे।

सोलह

गौरी, रम्भा, उमा और पार्वती एक ही नारी के विभिन्न नाम हैं, जो भोलेनाथ शिव शम्भू की प्रेयसी है। अनिल इन दिनों उसी का चेहरा बनाने में व्यस्त है। जिस प्रकार पहले शिव का चेहरा बनाते समय उसने शिव के बारे में बहुत कुछ पढ़ा था, उसी तरह अब पार्वती के बारे में बहुत कुछ पढ़ा और सोचा था। एक प्रतिमा में चेहरा ही सब कुछ है, उसी से पूरा व्यक्तित्व झलकता है। दो महीने से अधिक समय लग चुका था पर चेहरा अभी तक अधूरा था। कमानीदार भवें, पलकें, तीखी नाक और नाजुक होंठ—इन सबको पत्थर में अंकित करना कितना कठिन था। "कालिदास और पार्वती", वह चेहरा बनाते-बनाते सोचता "महाकवि ने कुमार सम्भव में हिमालय की इस बेटी के रूप को वर्णन किया था। छि छि, पाप, महा पाप! मां गौरी के रूप का वर्णन! महाकवि को कुष्ट रोग का दंड मिला। अब वह खुद मां गौरी के उसी रूप को पत्थर में अंकित कर रहा था। क्या उसे भी पाप लगेगा? क्या उसे भी दंड भुगतान होगा? शायद महा

कवि के प्रायश्चित ने कला को दंड से मुक्त कर दिया है। वरना वरना······ इस तस्वीर का चित्रकार···

एक दिन कलाकार पार्वती का चिबुक बनाने में व्यस्त था और लता पास खड़ी उसके हाथ की दक्षता को एकटक देख रही थी। हथौड़ी के सधे हुए प्रहार धीमे-धीमे छैनी पर पड़ रहे थे और नन्हे-नन्हे कण उड़ रहे थे। अनिल महाकवि सम्बन्धी किवंदंती को याद करके सहसा मुस्कराया।

"महाकवि से जो पाप हुआ था", वह लता की ओर देखते हुए बोला, "उसका प्रायश्चित उन्होंने रघुवंश लिखकर किया। मुझे अपने पाप का प्रायश्चित करने के लिए जाने किसकी मूर्ति अथवा चित्र बनाना होगा।" "तुम मेरा चित्र बनाना, कलाकार।" लता ने झट उत्तर दिया।

"तुम्हें विश्वास है कि इससे प्रायश्चित हो जायेगा।

"निश्चित रूप से हो जायगा।" लता ने 'निश्चित' पर विशेष बल दिया।

अनिल ने हथौड़ी और छैनी रखकर एक क्षण उसकी ओर देखा।

"पर उमा की आंखों की शोभा तो मैंने तुम्हारी ही आंखों से उधार ली है।"

"सच ?"

"हां।"

कुछ क्षण मौन के बीते।

"पर कलाकार, यह तुमने अच्छा नहीं किया।" लता गम्भीर हो कर बोली।

"क्यों ?"

"पहली वात तो यह कि मैं उमा नहीं हूँ। लता नाम की किंचित दासी हूं। दूसरे चित्र में उमा की आंखों की जो शोभा है, तुम्हें उसी को मूर्ति में ढालना चाहिए वरना मूर्ति चित्र से अलग चीज बन जायगी।"

"ऊहूं, यह तुम्हारा भ्रम है।" अनिल ने प्रतिवाद किया, इस भ्रम को मन से निकाल दो। हर कलाकृति के पीछे एक प्रेरणा होती है। उमा को न महाकवि कालिदास ने देखा था और न इस चित्रकार ने। उन्होंने भी अपने युग की किसी न किसी सुन्दर नारी को देख कर ही उमा के अनुपम सौंदर्य की कल्पना की होगी। उमा का रूप भारत की हर नारी की विपोती है। वह हर युग में जीवित है। अगर मैं तुम्हे साक्षात न देख लेता तो सिर्फ चित्र मात्र से उमा की आंखों के सौंदर्य की कल्पना सम्भव नहीं थी। उनमें जो सजीवता है, वह तुम्हारे इन नयनों ने प्रदान की है।"

और वह खिलखिला कर हंस पड़ा।

"तुम नटराज की तरह चंचल और खिलंदडे बन रहे हो, कलाकार।"

"यह भारत के हर पुरुष की विपोती है।"

वह फिर हंसा और इस बार लता ने भी हंसी में उसका साथ दिया।

"मैं यह चिबुक पूरा कर लूं।" अनिल ने हथौड़ी और छैनी उठाते हुए कहा, "शिव और पार्वती के चेहरे बनाना ही सब से कठिन काम था। वे अब बन गये हैं और हम जल्दी ही मूर्ति मुकम्मिल करके अपने घर जायेंगे।

"इन दिनों घर की याद बहुत आ रही है।" लता आंखों में

कौतूहल भर कर बोली।

"वह तो आयेगी। अवश्य आयेगी। मुझे यहां आये दस-ग्यारह महीने हो गये। बरसात सिर पर से गुजर गई। बीवी बच्चों की याद आना तो स्वाभाविक ही है।" अनिल ने स्थिर दृष्टि से लता की ओर देखते हुए उत्तर दिया और फिर मुस्करा कर कहा, "इसी याद से तंग आ कर तो यक्ष बेचारे ने मेघ को अपना दूत बनाया था।"

"यक्ष का अपराध क्या था?" लता ने आंखें फैलाकर हठात पूछा।

"यक्ष का अपराध! इधर आओ। आराम से बैठें।" अनिल ने हथोड़ी छैनी रख कर लता को अपने साथ सोफे पर बिठाया और बात शुरू की, "मैं समझता हूं यक्ष का अपराध महाकवि की कल्पना मात्र है क्योंकि उसे एक महाकाव्य की रचना करनी थी।" वह मुस्कराया और आंख मिचकाकर आगे कहा, "निस्सं-देह कल्पना सुन्दर है। सुनो, मैं तुम्हें बताता हूं। ....."

मेरा दुर्भाग्य यह है कि मैंने पढ़ा बहुत कम है।" लता बोली।

"इसमें तुम्हारा दोष नहीं। आदमी परिस्थितियों से मजबूर है।"

"परिस्थितियों की मजबूरी का नाम ही तो दुर्भाग्य है, कलाकार।"

अब के लता खिलखिला कर हंसी।

"यह ठीक है, यह ठीक है।" अनिल ने उसका हाथ दबाकर दाद दी और आगे कहा, "बात यक्ष के अपराध की हो रही थी। उसका स्वामी राजा शिव का पुजारी था। यक्ष की ड्यूटी यह थी कि वह राजा को पूजा के लिए हर सुबह ताजे फूल लाकर देता

था। मगर एक रात वह पत्नी के साथ प्रेम-क्रीडा में देर तक जागता रहा। सुबह आंख खुली तो पूजा का समय निकट था और बाग में फूलों के लिए जाना सम्भव नहीं था। अतएव वह पिछले दिन के बासी फूल ले गया। राजा ने क्रोध में भर कर उसे देश निकाला दिया ताकि जिस पत्नी के प्रेम में वह अपने कर्त्तव्य को भूल गया है, अब उसके वियोग की पीड़ा सहे।"

"दंड की यह विधि सचमुच अनूठी है और ऐसे दंड की कल्पना सिर्फ कवि ही कर सकता है।" लता आंखों में मुस्कराई।

"वैसे कुछ राजे भी कवि-हृदय होते थे।" अनिल ने उत्तर दिया।

"खैर, यह बताओ कि तुम्हारा अपना अपराध क्या है?"

"मेरा अपराध यक्ष से अधिक भयंकर है।" अनिल ने गम्भीर हो कर कहा और उसकी आंखों में वियोग की तरल पीड़ा उमड़ आई, "मैंने महन्त से पैसा लिया और शिव की मूर्ति बनाने में टाल-मटोल करता रहा। इसी अपराध के दंड स्वरूप बंदी बना बैठा हूँ और बीवी-बच्चों को देखने के लिए तड़प रहा हूँ।"

"लता चुप बैठी सुन रही थी। अनिल अब निर्विकार कलाकार नहीं हाड़-मांस का एक सामान्य व्यक्ति था जो बीवी-बच्चों की जुदाई में उदास था।

एक चिड़िया, संगमरमर की सिल पर आकर बैठी और 'ची' चिररे कर उड़ गई।

"अब तो गौरैया का घोंसला भी सूना पड़ा है।" जाने क्या सोच कर लता बोली।

अनिल हड़बड़ाया। उसे अपने भीतर कुछ गिरकर टूट गया-सा महसूस हुआ।

"हां, बरसात शुरू होने से पहले ही बच्चों के पंख निकल आते हैं और वे उड़ जाते हैं।" अनिल ने संयत स्वर में उत्तर दिया।

अब के लता लड़खड़ाई और उसे अपने भीतर कुछ टूट गया महसूस हुआ।

"कलाकार।" वह बोली, "यह दुनिया इतनी विस्तृत और इतनी सुन्दर है। इसमें इतने लोग बसते हैं, इतने रंग-राग और तमाशे हैं। फिर भी यहां इतना सूनापन क्यों है?"

"सूनापन!" अनिल ने दोहराया और फिर लता की आंखों में आंखें डालकर पूछा, "क्या तुम सूनापन से बहुत घबरा जाती हो?"

"हां, कभी-कभी तो बाल नोच लेने और दीवार से सिर टकराने को जी चाहता है।" उसने निस्संकोच उत्तर दिया।

"स्नेह और प्यार के अभाव का नाम ही सूनापन है।" अनिल ने एक क्षण सोचने के बाद कहा।

लता अनिल के मुख से नजरें हटा कर सिल पर बन रही मूर्ति की ओर देखने लगी। शिव और पार्वती के धड़ एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। दोनों के चेहरों पर अगाध सौम्य और शान्ति थी।

"पार्वती ने जीवन के सूनापन से ऊब कर ही शिव के लिए तपस्या की होगी।" अनिल ने भी मूर्ति की ओर देखते हुए कहा।

"पार्वती की तपस्या सफल हुई, मगर······मगर······वह साड़ी का पल्लू दुरुस्त करते हुए बोली, "अच्छा मैं चलती हूं।"

अनिल कुछ नहीं बोला। वह चुप बैठा उसे जाते हुए देख रहा था और लता के तेज-तेज कदमों की चाप उसे यों सुनाई दे रही थी जैसे कोई भयंकर तूफान चीख-चिंघाड़ रहा हो।

लता के चले जाने के बाद अनिल ने फिर सिल की ओर देखा। पार्वती के चिबुक में जो जरा सी कसर थी वह उसे पूरी कर देना चाहता था। पर इस समय बनाने में हाथ के बहक जाने का डर था क्योंकि इसका मन अशान्त था और भीतर उथल-पुथल मची थी।

"सरकार, चाय ?" रग्घू ने भीतर आकर पूछा।

"हां ले आओ।" अनिल बोला।

उसने सिगरेट सुलगाई। वह आहिस्ता-आहिस्ता कश लगाता और धुंआ छोड़ता रहा।

लता उसके लिए अब पहेली नहीं रही थी। अनिल ने उसके भीतर झांक कर देख लिया था और वे दोनों एक-दूसरे की मनोगत भावनाओं को दूर तक पहचानते थे और दोनों में परस्पर संवेदना का सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

वह उसी के बारे में सोच रहा था कि रग्घू चाय ले कर भीतर आया। उसने ट्रे मेज़ पर रख कर चुपचाप अपने हाथ से प्याला बनाया और अनिल के सामने रखकर बाहर चला गया।

कलाकर ने सिगरेट एस्ट्रे में बुझा दी और गर्म-गर्म चाय का एक घूंट भरा।

"आप नहीं डरते तो मैं भी किसी से नहीं डरती।"

एक आवज कमरे में गूंज रही थी। अनिल इस आवाज को सुन रहा था और शून्य में झांक रहा था।

उस रात सावन का अंधेरा घुप था और रिमझिम मेंह बरस रहा था। लता ने "देखो री मुकट झोंका ले रहा जमना के तीर" वीणा पर गाया था। अनिल ने हमेशा से कुछ अधिक पी थी, मगर होश में था।

"क्या तुम ऐसे में भी घर जाओगी ?" अनिल ने बाहर झांकते हुए लता से पूछा था।

"नहीं, आप की आज्ञा हो तो मैं यहां भी रह सकती हूँ।"

"आप और आज्ञा।" अनिल ने विद्रूप स्वर में दोहराया और ठहका मार कर हंसने लगा।

"देखो लता, मुझे यह अजनबी का सा व्यवहार पसंद नहीं।" वह फिर बोला।

"तो फिर आप क्या चाहते हैं ?"

"आप नहीं। यों पूछो कि कलाकार तुम क्या चाहते हो ?"

लता ने एक क्षण अनिल की ओर देखा और फिर उसका बढ़ा हुआ हाथ अपने हाथ में थाम कर बोली-"कलाकार तुम क्या चाहते हो ?"

अनिल कुछ नहीं बोला। वह चुप बैठा नारी के उन नाजुक होंठों की ओर देख रहा था जिन से "तुम" शब्द ध्वनित हुआ था।

बाहर घुप अंधेरा था रिमझिम मेंह बरस रहा था और अनेकों मेंढक एक ही स्वर में कोई ऐसा अनादि राग अलाप रहे थे जिसका अर्थ मनुष्य ने आज तक नहीं समझा था।

मुझे अपनी कहानी सुनाओ। "अनिल बोला।

और लता ने कहनी शुरू की :

"मेरा जन्म एक गरीब घर में हुआ था। बाप पंगु था या यों कह दो निठल्ला और निकम्मा था। मां दूसरों के कपड़े धो कर, बर्तन मांझ कर गुजारा चलाती थी। मैं सात-आठ साल की हुई तो इस काम में मां का हाथ बटाने लगी। दरिद्र और अभाव में मनुष्य का जो पतन होता है, वह बड़ा भयंकर है। मेरा मन अच्छी चीजों के लिए ललचाया करता था। दस-ग्यारह साल की

उम्र तक तो मुझे लोगों की अवज्ञा और भर्त्सना सहन करनी पड़ी। जब में बारह-तेरह साल की हुई तो मुहल्ले के लड़कों, नौजवानों और अधेड़ उम्र मर्दों ने मेरी ओर ललचाई नजरों से देखना शुरू किया। उनकी कमजोरी भांप कर मैंने भी बनना, इठलाना शुरू कर दिया। गरीबी में भी शरीर की उठान अच्छी थी। मुझे पैसा, कपड़ा और मन पसंद चीजें विना किसी मेहनत के मिलने लगीं। माँ जिसने सारी उम्र रोते-झींकते बिताई थी और बाप जिसकी जीभ स्वादिष्ट पदार्थों के लिए तरस-तरस कर रह जाती थी, कुछ दिन तो बिगड़े फिर उन्हें भी सुख पड़ गया और उन्होंने मेरे आचरण की ओर से आंखें मूंद लीं।"

बाहर मेंह बराबर बरस रहा था। मेंढक बीच-बीच में रुक जाते थे और फिर एक साथ अपना राग अलाप देते थे। रात आधी के करीब बीत चुकी थी।

"कलाकार, तुम अब लेट जाओ।"

"पहले तुम कहानी पूरी कर लो।"

"मैं, तुम्हारे पास बैठ कर सुनाऊंगी।"

"मैं यहीं आराम से हूं।" अनिल ने एक नई सिगरेट सुलगाई।

"तुमने आज भोजन भी नहीं किया।"

"इसकी चिंता न करो। तुम कहानी सुनाओ में बड़े मजे से सुन रहा हूं।" अनिल ने सिगरेट का एक लम्बा कश लगाया।

"माँ, बाप तो चुप हो रहे, पर दुनिया का मुंह कौन बंद करता।" लता ने बात आगे चलाई, "इधर-उधर चर्चा फैली और मां-बाप से शिकायत होने लगी कि अगर तुम्हें शर्म लिहाज नहीं तो मुहल्ले का ही ख्याल करो और अपनी इस कुलच्छनी बेटी

को रोको। मैंने इस बदनामी से बचने के लिए धर्म की आड़ ली और अपने चाहने वाले एक धर्मात्मा पुरुष के मश्विरे से में वैष्णवी बन गई। अब मुझे खुली छूट थी। भगतिनी के बाने में जब चाहूं और जहां चाहूं आ-जा सकती थी।"

"और मुहल्ले वाले?" अनिल ने पूछा।

"उनकी जबान बंद थी। वे डरते थे कि एक वैष्णवी के बारे में बुरा सोचने से पातक लगेगा।"

"खूब! खूब!" अनिल विद्रूप भाव से मुस्कराया।

"मगर में अपने इस जीवन से जल्द ही ऊब गई। एक नारी की तरह मैं भी किसी एक की बन कर जीवन बिताना चाहती थी। और तो सब मन बहलाने वाले थे, मगर एक छरेरे शरीर और गोरे रंग का जुगल किशोर नामी नौजवान अपने आप को सच्चा प्रेमी कहता था और कई बार मुझे अपनी बना कर रखने की बात कह चुका था। मैं उसके साथ भाग कर दिल्ली चली आई।"

"पहले तुम कहां रहती थीं?" अनिल ने मुंह से धुंआ छोड़ कर हठात पूछा।

"कलाकार, यह जान लेना कोई जरूरी नहीं है।" लता ने उसके मुंह पर आंखें गड़ा कर कहा, "हमारे इस विशाल देश के किसी भी शहर या गांव में गरीबी का तांडव नाच देखने को मिलेगा और किसी भी गरीब घर में मेरे जैसी लड़की का होना सम्भव है।"

उसकी आंखों में अथाह पीड़ा थी।

अनिल चुप रहा।

"जुगल किशोर मुझे एक बुढ़िया के घर में ले आया। उसने

मुझे बड़े आदर से रखा और चार-पांच दिन बड़ सुख के बीते। उसके बाद मुझे पता चला की यह बुढ़िया बड़ी चंडाल है और इधर-उधर से लड़कियां फंसा वैश्याओं के हाथ बेचने का धंधा करती है।"

"जुगल तुम्हें वहां क्यों ले गया ?"

"वहां भी उसका दलाल था।" लता ने आह खींच कर कहा, "जब मुझे यह पता चला तो सिर पीट लिया। कोई किसी का क्या विश्वास करे और किसके भरोसे जिये ? खैर, मुझे भी एक रंडी के हाथ बेच दिया गया। मैंने कोई आपत्ति नहीं की। जुगल से और बुढ़िया से मुझे इतनी नफरत हो गई थी कि मै कहीं भी जाने को तैयार थी। वह रंडी एक प्रसिद्ध गायिका थी। स्वभाव और मन की शिष्ट थी। मैं उस के पास आठ-नौ साल तक रही। मेरा स्वर मधुर था। उससे मैंने गाना और वीणा वजाने के अलावा और भी बहुत कुछ सीखा. धीरे-धीरे मेरा भी अच्छी प्रसिद्धि हो गई। फिर अचानक महन्त योगेश्वर गिरी से भेंट हुई और मै यहां चली आई। अब जो कुछ में हूं वह तुम देख ही रहे हो।"

"महन्त से भेंट कैसे हुई और तुम यहां कैसे आई ?" यही तो मैं जानना चाहता हूं।"

"यही तुम जानना चाहते हो ?" उसने दोहराया।

"हां।" अनिल ने उसकी आंखों में आंखें डाल कर दृढ़ स्वर में कहा।

"अच्छा सुनो।" लता कुछ क्षण मौन रह कर बोली, "आप के महन्त योगेश्वर गिरि ही वह महात्मा पुरुष है जिन्होंने मुझे वैष्णवी बनने का मश्विरा दिया था। इस मन्दिर का पहला

महन्त इनका कोई निकट सम्बन्धी था । उसकी मृत्यु के बाद यह गद्दी इन्हें मिल गई । पहले यहां सिर्फ कृष्ण का मंदिर था महादेव वाले खंड का निर्माण बाद में इन्होंने खुद किया है और अपने कौशल से मंदिर की प्रतिष्ठा बढ़ाई है । यह तुम देख ही रहे हो कि इनके पास पैसे और यश की कुछ कमी नहीं है ।"

"वह तो ठीक है, पर तुम्हारी खोज-खबर इन्हें कैसे मिली ?" अनिल ने पूछा ।

"वह रंडी कृष्ण की भक्त है । एक बार मुझे अपने साथ लेकर यहां कीर्तन में आई । महन्त ने मुझे पहचान लिया । शायद इसी निशान से पहचाना हो क्योंकि यह उसी समय बच गया था जब अवस्था बारह-तेरह बरस की थी और महन्त भी इसे कई बार यों ही सहलाया करता था जैसे कभी-कभी तुम सहलाते हो ।"

अनिल ने उसका बांया हाथ अपने हाथ में थाम लिया और बात पूरी करने का संकेत किया ।

"महन्त ने मुझे अलग बुलाया तो मैंने भी इन्हें पहचान लिया ।

"कहिए, आप क्या चाहते हैं ?" मैंने चिढ़ कर पूछा ।

"मैं तुम्हें अपने पास रखना चाहता हूं ।" उत्तर मिला

"मुझे ?"

"हां," महन्त ने दृढ़ स्वर में कहा और बोला, "मैं किसी से नहीं डरता ।"

"मैंने उसकी आंखों में झांक कर देखा तो बीते दिनो की याद आई और मैंने महसूस किया कि वह सचमुच मुझ से प्रेम करता था और अब भी करता है ।

"अच्छा । अगर आप किसी से नहीं डरते तो मैं भी नहीं डरती ।"

"महन्त मेरे बदले गायिका को जो धन वह मांगे देने को तैयार था। पर उसने बिना कोई पैसा लिए श्रद्धाभाव से अनुमति प्रदान की और वादा किया कि वह इस बात की चर्चा किसी से नहीं करेगी।"

"उसने तो वादा कर दिया,पर इतने लोग जो यहां आते हैं और तुम्हें देखते है क्या वे भी कोई चर्चा नहीं करते ?"

"कलाकार मैं कह चुकी हूं कि धर्म का बाना ओढ़ लो तो लोगों की जुबान आप ही बंद हो जाती है। उनके लिए मैं सिर्फ भगवती देवी हूं। अगर मैं बैठ जाऊं तब भी वे कुछ नहीं बोलेंगे, बुरा भाव मन में आने तक नहीं देंगे।"

"वैसे क्या मैं पूछ ...."

"कलाकार, व्यर्थ की बात पूछना विद्वानों को शोभा नहीं देता : इस समय जो स्थिति है उसे मेरे और अपने आचरण से समझने का प्रयत्न करो।" लता ने अनिल की बात काट कर उत्तर दिया और उसकी आंखें सर्वथा निर्विकार थीं।

अनिल बैठा चाय पी रहा था। और सोच रहा था कि अनुभव की पाठशाला में इस औरत ने कितना सीखा और कितना पाया है।

सत्रह

समय चेंटी की चाल चल रहा है और काम समाप्त होने में नहीं आ रहा। अनिल बहुत परेशान है। वह शिथिल और स्थिर बैठा दिल्ली, कनाट प्लेस, रेस्तराओं-होटलों, चित्रकार मित्रों और कला-प्रदर्शनियों के बारे में सोच रहा है। वह दिल्ली से दूर है और सचमुच महन्त का बन्दी है। एक साल से अधिक समय मथुरा में रहते हो गया, पर वह उसके बारे में कुछ भी नहीं जानता। सिर्फ जमना घाट और मन्दिरों का नाम ही तो मथुरा नहीं है। मन्दिरों के अलावा उसके गली-कूंचों, बाजारों, मुहल्लों और मकानों के अलग अलग नाम हैं और वह उनसे परिचित नहीं है। उसकी दुनियां इस मकान तक सीमित है, जिसमें बैठा वह मूर्ति बना रहा है।

शिव और पार्वती के चेहरे बन जाने के बाद उसने सोचा था कि काम जल्द खत्म हो जायेगा, पर ऐसा नहीं हो पाया। भुजा और गले में लिपटे सांपों के बनाने में काफी समय लगा। अभी नीचे का कुछ भाग बनाना बाकी था और उसके लिए एक-एक

पल भारी था। कल हेमला का खत आया था। उसने लिखा था कि नीरजा और अरुण तुम्हें बहुत याद करते हैं। बार-बार पूछते हैं कि पापा कब आयेंगे। अरुण ने एक नया चित्र बनाया है। यह एक लड़की का है जो उसके साथ पढ़ती है। मैंने भी उसे देखा है। वह बड़ी भोली और मासूम है। उसकी यह मासूमियत अरुण के चित्र में इतनी सजीव हो उठी है कि तुम देखो तो दंग रह जाओ.......।

बच्चों की भोली बातों और मासूमियत में कितना आकर्षण है। अनिल कुछ दिनों गौरैया के बच्चों को देखकर मन बहलाता रहा। मगर अब घोंसला सूना पड़ा था। बारिश से उसके तिनके भी स्याह पड़ गये थे। फिर नर और मादा पंछी और न बच्चे इधर आये। वे नीले आकाश की विस्तृता में जाने कहां-कहां उड़ते होंगे। क्या उन्हें अपने घोंसले की याद भी नहीं आती?

कभी-कभी जी में आती कि वह जैसे महाराजा का पोर्ट्रेट अधूरा छोड़ कर सेठ राधा रमण की दूकान से भाग खड़ा हुआ था, यहां से भी भाग खड़ा हो। लेकिन दूसरे ही क्षण महन्त का ध्यान आता और लता का ध्यान आता.......

"हीन भावना मन में लाना ही व्यर्थ है।" वह सिर झटक कर बुदबुदाता, सिगरेट का लम्बा कश खींचता और रघू को बुला कर चाय लाने का आदेश देता।

विचारों और सम्बन्धों में बड़ी प्रेरणा है, बड़ी शक्ति है। विचार और सम्बन्ध न हों तो मनुष्य क्या है? हाड़-मांस का पुतला मात्र है और एक जंगली जानवर है। बर्बर युग में जब विचार और सम्बन्ध नहीं थे तो मनुष्य कितना दीन-हीन, विपन्न और किंचित था।

अनिल विचारों और सम्बन्धों के कारण ही बनारस और दिल्ली से जुड़ा हुआ था। और अखबार में इन दोनों शहरों की खबरें बड़े चाव से पढ़ता था। अर्चना के स्कूल में कोई सांस्कृतिक समारोह था, जिसका संक्षिप्त विवरण अखबार में छपा था। अनिल ने उसे किसी सुन्दर काव्यकृति की तरह चाव से पढ़ा और पढ़ने से मन तृप्त और संतुष्ट हुआ। हालांकि उस सारे विवरण में अर्चना का नाम नहीं था, मगर वह जानता था कि अर्चना उसकी दीदी इस स्कूल से सम्बन्धित है और समारोह की सफलता में उसका सहयोग भी शामिल है।

फिर उस दिन सेठ राधारमण की गिरफतारी की खबर ने उसे एकदम झंझोड़ दिया। वह कई दिन तक उसी के बारे में सोचता रहा और उसे शो-केसों में रखी मूर्तियां और उन पर चस्पां लेबिल दिखाई देते रहे।

इस समय भी चाय पीते-पीते यह खबर ध्यान में आ गई। कारण यह कि अनिल ने इसे काट कर अपनी छोटी मेज के शीशे तले रख लिया था। अभी निकाल कर उसे पढ़ा :

"दिल्ली, १२ अगस्त.........पुलिस ने यहां की प्रसिद्ध फर्म "आईवोरी प्लेस" पर छापा मारा और उसके मालिक सेठ राधा रमण को गिरफ्तार कर लिया। कारण यह कि पुलिस को ऐसे अंतरप्रांतीय गिरोह का सुराग मिला है जो मन्दिरों से देवी-देवताओं की प्राचीन प्रतिमाएं चुराकर बेचने का धंधा करता है।

तलाशी मे ५६ प्रतिमाएं बरामद हुई जो दक्षिण के मन्दिरों से चुराई गई थी।"

अनिल यह खबर पढ़कर मन ही मन हंसा था और राष्ट्र के पतन पर उसे दुख भी हुआ था। और अब भी ऐसी ही भावनाएं

मन में उठ रही थीं और सेठ की तोंदेल देह उसके सामने थी।

रघू बर्तन लेने भीतर आया। अनिल ने कुछ ऐसी नज़र से उसकी ओर देखा कि वह ठिठक गया।

"रघू तुम्हें मालूम है ?"

"क्या सरकार ?"

"गज़नी में महमूद नाम का एक बादशाह था। उसने मथुरा में आ कर मूर्तियां तोड़ी और मन्दिरों को लूटा।

रघू की समझ में कुछ नहीं आया। वह विमूढ़-सा अनिल की ओर देखता रहा। बसन्ता भी उसकी अटपटी बातें सुन कर यों ही देखा करता था।

"मन्दिरों को लूटना पाप है ना ?"

"हां, सरकार। बोहत बड़ा पाप, महा पाप! मन्दिर तो भगवान का घर है।" रघू ने सिर हिलाते हुए उत्तर दिया।

"पर भगवान ने महमूद को इस पाप का दण्ड नहीं दिया। दे नहीं पाया। शायद इसलिए कि वह भगवान को नहीं खुदा को मानता था।"

"सरकार, मुसलमान जो ठहरा। मुसलमान खुदा को ही मानते हैं।" रघू ने दांत निपोरे।

अनिल ने कश लगाकर धूंआ छोड़ा।

"रघू !"

"जी, सरकार।"

"तुम्हें मालूम है", अनिल सहसा रुक गया। वह कहना कुछ और चाहता था पर अब बात बदल कर बोला, "दिल्ली में चोरों का एक ऐसा गिरोह पकड़ा गया है जो मन्दिरों से मूर्तियां चुरा कर बेचता था।"

"अच्छा सरकार चोर पकड़े गये ?" रग्घू की आंखें चमक उठीं।"

"हां, पकड़े गये।" अनिल ने उत्तर दिया और फिर अपने आप में डूब कर कहा, "मगर उन्हें भी भगवान नहीं, सरकार का कानून दण्ड देगा।"

रग्घू वर्तन समेट कर चला तो अनिल मूर्ति चोरों के बारे में नहीं खुद रग्घू और वसन्ते के बारे में सोच रहा था। बेचारे कितने निरीह, सरल और अबोध है। इतिहास, धर्म और सरकार के बारे में कुछ नहीं जानते। पुण्य और पाप को मानते हैं और भगवान और कानून दोनों से डरते हैं।

"वसन्ते।"

"जी, साब।"

"तुम्हें एक लाख रुपया मिल जाये तो क्या करोगे ?"

"जी, साब। मन्दिर बनवाऊंगा।"

"मूर्ख ! महन्त योगेश्वर गिरी को देखो। उसने भी यह मंदिर बनवाया है। मगर जब वह संध्या उपासना करने बैठता है तो रिजर्व बैंक की चैक-बुक उसके आसन के नीचे होती है।"

सहसा अंगुली जल जाने से विचार मुद्रा टूटी और अनिल ने हाथ झटक गर खत्म हो रही सिगरेट फर्श पर फेंक दी।

विचार और सम्बन्ध मनुष्य को कहां से कहां पहुंचा देते है। उनमें बड़ी प्रेरणा है, बड़ी शक्ति है।

विचारों की खोज में वह जाने कहां से कहां घूमता फिरा था, जीवन यात्रा में कितने मोड़ घूमे थे और उसे कितने सत्यों की उपलब्धि हुई थी। विचारों का कोई ओर-छोर नहीं और कोई भी सत्य स्थिर और शाश्वत नहीं। खोज निरन्तर जारी थी। वास्तव

में इसी का नाम जीवन-यात्रा था। मूर्ति बन रही थी और नए विचार हथौड़ी और छैनी से तरशे-तरशाये विचार और संगमरमर के सदृश ठोस और चमचमाते हुए विचार कलाकार की आत्मा को अकस्मात गुदगुदा जाते थे।

उसके भीतर जो पुराना और जर्जर था, वह टूटता-झड़ता था और नए का विकास हो रहा था।

आखिर नागनाथ बना, मूर्ति मुकम्मिल हुई और अनिल के मन से एक बोझ उतरा। इस काम में उसे एक वर्ष दो महीने से कुछ दिन अधिक लगे। लेकिन मूर्ति लाजवाब बनी थी, जो भी देखता था आश्चर्य-चकित रह जाता था। महन्त योगेश्वर गिरी एक दम फड़क उठा और वह एकटक शिव और पार्वती के चेहरों की ओर देखता रह गया। यहां उनके नेत्रों में जो अलौकिक ज्योति और दैवी आभा थी, वह चित्र में भी नहीं थी।

"कलाकार, मैं आपको धन्यवाद देता हूं। आपने मेरी मनोकामना पूरी की और आशा से बढ़कर पूरी की।"

महन्त ने प्रसन्न होकर कहा और तुरंत दस हजार का चैक काट कर अनिल को थमा दिया।

एक हज़ार रुपये महीना कलाकार के घर पहुंचता रहा। इधर अनिल के सुख-सुविधा की पूरी व्यवस्था थी, वह जो चाहता था उसे मिल जाता था। अगर कुल हिसाब लगाया जाये तो यह मूर्ति बनवाने में महन्त के साठ हजार से कुछ अधिक रुपये खर्च हुए। मगर रुपये की उसके आगे बिसात ही क्या थी? उसे किसी भी मूल्य पर मूर्ति बनवानी थी और वह बन गई थी। वह इतना प्रसन्न था कि उसकी अंतरात्मा खिल उठी थी।

जितनी सुन्दर बनी है, समारोह को भी उसके अनुरूप बना देने के लिए महन्त ने कोई कसर उठा नहीं रखी। लाखों की तदाद में इश्तहार बांटे गये, शहर-शहर में पोस्टर चिस्पां किये गये और देहात में बीस-बीस कोस तक पंडे प्रचारार्थ भेजे गये।

यह विज्ञापन का युग है और महन्त योगेश्वर गिरी ने इस तथ्य को समझ लिया है।

उसे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। महन्त के श्रद्धालुओं और भक्तों के अलावा लाखों नर-नारी दूर-दूर से खिचे चले आये हैं। मथुरा के बाजारों में इतनी भीड़ है कि सिरों का समुद्र ठाठें मार रहा है। कुछ लोगों का अनुमान है कि कभी जन्मष्ठमी के उत्सव पर भी इतने लोग इकट्ठे नहीं हुए।

अनिल और मोंगा भी मथुरा आये हुए थे। वे विशेष रूप से निमंत्रित थे और अब अपने मित्र खरे के साथ मंदिर के निकट बाज़ार में घूम रहे थे। अनिल खुश था कि इतने लोग उसके द्वारा निर्मित मूर्ति को देखेंगे और मुक्त कंठ से उसकी कला की सराहना करेंगे। उन्होंने तम्बोली से लेकर पान खाये और वहीं रुक कर भीड़ की ओर देखने लगे।

मूर्ति की स्थापना का समय निकट था। लोग श्रद्धा और उत्साह में भरे मंदिर की ओर बढ़ रहे थे। कुछ चुपचाप चल रहे थे और बहुतेरे बातें कर रहे थे। ये बातें, मंदिर, समारोह और मूर्ति के बारे में थीं। अनिल के कान खड़े हुए और उसने सुना :—

"बहुत प्राचीन मूर्ति है।"

"कहते है कि नंदन वन से प्रकट हुई है।"

"प्रकट हुई है ।"

"हां, दर्शनों से जन्म-जन्म के संकट दूर होते हैं ।"

खरे और मोंगा का ध्यान इस ओर नहीं था । उन्होंने यह बातें नहीं सुनीं । सुनते भी तो उन पर वह प्रति क्रिया न होती हेजो अनिल पर हुई थी । उसका जी जल गया और मन में आया कि इन लोगों का रास्ता रोक ले और छाती ठोक कर कहे---"मुझे देखो, मैं अनिल कलाकार हूं । शिव की इस मूर्ति का निर्माण मैं ने किया है । तुम किस भूल में पड़े हो । मूर्ति कभी प्रकट नहीं होती । उसे हमेशा मनुष्य बनाता है ।" मगर क्या वे उसकी बात सुनेंगे ? और अगर सुनेंगे तो क्या विश्वास करेंगे ? सच्ची बात का विश्वास करना भी कितना कठिन है । यह आज उसने शायद पहली बार महसूस किया ।

थोड़ी देर बाद वे भी मंदिर में पहुंचे और उन कुर्सीयों पर जा बैठे जो विशिष्ट अतिथियों के लिए बिछाई गई थीं ।

अनिल ने खरे को मूर्ति के नंदन बन से प्रकट होने की बात सुना कर कहाः

"लोगों में भ्रम कितनी जल्दी फैल जाता है ।"

"फैल नहीं जाता, फैलाया जाता है ।" खरे ने विद्रूप भाव से प्रतिवाद किया ।

इसी समय शंख और घड़ियाल बज उठे । सब लोग मंडप की ओर देखने लगे । हवन में पूर्णाहुति डल चुकी थी और आरती प्रारम्भ हो गई थी । लता अर्थात भगवती देवी अपनी कीर्तन मंडली के साथ मंडप में आई और उन्होंने गाया :

जय जय शंकर जय महादेव
गौरी पति हरि जय महादेव ।

नील कंठ हरि गरल पिये

जय जय शंकर जय महादेव।

खड़तालों और झांझों की आवाज ऊंची हुई न सिर्फ मंडप में कीर्तन मंडली बल्कि जन समूह श्रद्धा और उत्साह में भरा स्वर में स्वर मिला कर गा रहा था। झांझें और खड़तालें बज रही थीं और "जय जय शंकर जय महादेव।" का स्वर हजारों लाखों कण्ठों से निकल कर सर्वत्र गूंज रहा था।

मंडप शिव मन्दिर के दाहिनी ओर दीवार के निकट बना हुआ था और शिव-पार्वती की वह मूर्ति रखी हुई थी जिसे अनिल ने चित्र के आधार पर बनाया गया था। मूर्ति पीले रंग के सुन्दर रेशमी दोशाले से ढंपी हुई थी और फूलमालाओं से सजाई गई थी। आरती समाप्त होने ही महन्त योगेश्वर गिरि उठे और वेद मंत्र का जाप करके उन्होंने मूर्ति को अनावृत किया। वायु मण्डल एक बार फिर तालियों की ध्वनी और जयघोष से गूंज उठा। भक्त जन इस अद्भुत मूर्ति को देख गद्‌गद हो उठे।

"महानुभावो और सज्जनो।" महन्त का भाषण शुरू हुआ, "गौरी पति त्र्यम्बक भगवान की यह अद्भुत मूर्ति जो आप देख रहे हैं, वह मनुष्य की कृति नहीं। मनुष्य के नश्वर हाथों द्वारा इस अमर कृति का निर्माण सम्भव ही नहीं। हमारा सौभाग्य है कि शिव रात्री को जब हम नन्दन वन में समाविस्थ थे तो धरती हिली और अकस्मात शिव और गौरी की यह मूर्ति प्रकट हुई ...."

अनिल का रंग फीका पड़ गया। खरे ने उसकी ओर सहानुभूति से देखा और उसका हाथ दबा कर कहा :

"मेरे प्यारे मित्र कलाकार, हमारे इस महान देश में झूंठ का नाम सत्य है। यहां धर्म लेबिल है, देश भक्ति लेबिल है और समाजवाद लेबिल है। वास्तविकता कुछ भी नहीं।"

खरे विद्रूप भाव से मुस्कराया। मगर अनिल ने उसकी ओर नहीं देखा। शायद उसकी बात भी नहीं सुनी क्योंकि उसके मस्तिष्क में महन्त योगेश्वर गिरि का सुडौल शरीर सेठ राधा-रमण की तौंदेल देह में गडमड हो रहा था।